जैन विद्या

भाग-3

निर्देशन
आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती

आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
लाडनूं-341306
जिला : डीडवाना-कुचामन (राजस्थान) (भारत)
फोन नं. : 91-8742004849
ई-मेल : books@jvbharati.org
द्वारा प्रकाशित

भाषा – हिन्दी

कॉपीराइट – जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण – अप्रैल 2026

इस प्रकाशन का कोई भी भाग प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना किसी भी रूप में इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो कॉपी, रिकॉर्डिंग या अन्य किसी भी माध्यम से न तो पुनर्मुद्रित किया जा सकता है न संग्रहित किया जा सकता है और न प्रसारित किया जा सकता है।

मुद्रित एवं बाइंडिंग – श्री वर्धमान प्रिंट एण्ड पैक, गाजियाबाद (दिल्ली एन.सी.आर)

अधिकतम खुदरा मूल्य – 200/- (दो सौ रुपये मात्र)

जैन विद्या भाग - 3
निर्देशन : आचार्य महाश्रमण

प्रकाशकीय

जैन विद्या पाठ्यक्रम का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया है कि यह मानव जीवन के समग्र विकास में सहायक बने और जैन संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाए। जैन विद्या न केवल जीवन निर्माण का आधार है, बल्कि यह व्यक्ति को नैतिकता, अनुशासन, आत्मसंयम और आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में प्रेरित करती है।

इस पाठ्यक्रम का विशेष सौभाग्य है कि इसका निर्माण परम पूज्य आचार्य श्री महाश्रमण के प्रेरणाप्रद निर्देशन में संपन्न हुआ है। उनके मार्गदर्शन ने इस पाठ्यक्रम को गहन आध्यात्मिकता, व्यवहारिकता और मूल्यपरक दृष्टि प्रदान की है, जिससे यह और अधिक प्रभावी एवं उपयोगी बन सका है।

इस पाठ्यक्रम के माध्यम से जैन धर्म के इतिहास, संस्कृति तथा आध्यात्मिक परंपराओं का सुव्यवस्थित और सरल परिचय प्राप्त होता है। इसमें तत्व दर्शन, मंत्र, स्तुति, जैन सिद्धांतों के मौलिक आधार तथा अन्य अनेक विषयों का सारगर्भित विवेचन किया गया है। साथ ही, जीवन शैली पर आधारित प्रेरणादायक कथाओं को भी सम्मिलित किया गया है, जो विशेष रूप से बालकों में संस्कार निर्माण तथा चरित्र विकास के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

यह पाठ्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया है कि बालक, युवा तथा वृद्ध-सभी आयु वर्ग के लोग इसमें सहजता से भाग ले सकें और अपने जीवन को अधिक सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण बना सकें। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पाठ्यक्रम जैन विद्या के प्रसार के साथ-साथ समाज में नैतिक मूल्यों के जागरण का भी प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा।

टी. अमरचन्द लुंकड़
अध्यक्ष
जैन विश्व भारती

अनुक्रम

1.	जैनधर्म महान् क्यों?	1
2.	तेरापंथ दर्शन	6
3.	तेरापंथ और मूर्तिपूजा	12
4.	जैनधर्म और रात्रिभोजन	16
5.	नशा : समस्या और मुक्ति	20
6.	मांसाहार का निषेध क्यों?	23
7.	श्रावक की दिनचर्या	30
8.	तीर्थंकर मल्लिनाथ	34
9.	तीर्थंकर अरिष्टनेमि	39
10.	उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य	43
11.	आचार्य भारमलजी	50
12.	आचार्य रायचन्दजी	52
13.	आचार्य जीतमलजी	54
14.	पच्चीस बोल (15-25)	57

पाठ-1 जैनधर्म महान क्यों?

जैनधर्म का दार्शनिक दृष्टिकोण, जीवन की धारणाएं और मान्यताएं, सभ्यता और संस्कृति– इन सब तथ्यों को समझने के लिए तथा वर्तमान के वैज्ञानिक युग चिंतन में और जैनधर्म के दर्शन में कितना सामीप्य है, इसे जानने के लिए एक प्रश्न के आलोक में चिंतन हुआ कि जैनधर्म महान क्यों?

उत्तर मिला–जिसने सब मनुष्यों को अहिंसा के आचरण की प्रेरणा दी। जहां सार्वभौमिक सत्य को स्वीकृति मिली। जहां धर्म को सम्प्रदाय के साथ बांधा नहीं गया। जहां जैन संप्रदाय की अपेक्षा जैनत्व प्रधान रहा। जहां क्षेत्र और वेश का भेद नहीं हुआ। जहां साधना की दृष्टि से स्त्री-पुरुष, जाति-पांति, ऊंच-नीच, गोरा-काला आदि का कोई भेद नहीं रहा। जहां के सिद्धांत, जहां के विचार और जहां का व्यवहार सदैव शाश्वतता से प्रभावित रहा, वहां उस धर्म का महान होना आश्चर्य कैसे? फिर पूछा गया–यह सब कैसे?

उत्तर मिला–

आदर्शोऽत्र जिनेन्द्र आप्तपुरुषः रत्नत्रयाराधना,
स्याद्वादः समयः समन्वयमयः सृष्टिर्मता शाश्वती।
कर्तृत्वंसुखदुःखयोःस्वनिहितंध्रौव्यंव्ययोत्पत्तिमत्,
एका मानवजातिरित्युपगमोऽसौ जैनधर्मो महान्।।

जहां आदर्श आप्तपुरुष (वीतराग पुरुष) जिनेन्द्र को माना जाता है। जहां रत्नत्रय (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र) की आराधना की जाती है। समन्वय को स्थापित करने वाला जिसका स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का सिद्धांत है। जो सृष्टि को शाश्वत मानता है। जहां सुख-दुःख का कर्त्ता (किसी ईश्वर विशेष को नहीं) स्वयं व्यक्ति को स्वीकार किया गया है। जहां अस्तित्ववान पदार्थ का लक्षण उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्यात्मक माना गया है तथा जो मनुष्य जाति की एकता में विश्वास करता है। (इन सब विशेषताओं के कारण) यह जैन धर्म महान है।

1. आदर्श : वीतराग पुरुष

जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है। इसकी वैज्ञानिक पद्धति का पहला सूत्र है–'अप्पणा सच्च मे सेज्जा'– स्वयं सत्य खोजो। यह जैनधर्म की महानता का स्वयंभू साक्ष्य है। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य को

सत्य किसी अनिर्वचनीय सत्ता के द्वारा उपलब्ध नहीं होता। वह स्वयं अपनी साधना के द्वारा सत्य की खोज करता है और उसे उपलब्ध करता है। इन्हें जैनधर्म में सर्वज्ञ, जिण, जिनेश्वर, अर्हत् आदि कहा जाता है। ये राग-द्वेष से मुक्त, वीतरागता और केवलज्ञान से युक्त होते हैं। ऐसे जिनेश्वर भगवान को जैनधर्म में आदर्श स्वीकार किया गया है और ये जैनधर्म के पथदर्शक होते हैं। इनका पथदर्शन होने के कारण यह जैनधर्म महान है।

2. रत्नत्रय की आराधना

धार्मिक आराधना का मुख्य उद्देश्य है–निर्वाण। वह एक ऐसी अवस्था है, जहां सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा, जन्म-मरण आदि सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। उस निर्वाण की प्राप्ति के लिए जैनधर्म ने एक विशिष्ट सूत्र दिया–रत्नत्रय की आराधना। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की आराधना। **सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः**–सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का मार्ग है। इनकी सम्यक् आराधना कर हर जीव मुक्त हो सकता है। आत्मा से परमात्मा बन सकता है। कर्मों का क्षय कर अपनी परम अवस्था, मोक्षावस्था को प्राप्त कर सकता है पर इसमें कई दार्शनिकों का मत रहा कि नहीं, मुक्ति के लिए तो सिर्फ ज्ञानयोग ही आवश्यक है तो कईयों का मत रहा है कि नहीं, भक्ति योग अथवा कर्मयोग ही महत्त्वपूर्ण है। इसके समाधान में जैनधर्म में बताया गया कि व्यक्ति पहले ज्ञान से जानता है, दर्शन से जानी हुई बात पर श्रद्धा करता है और चारित्र के द्वारा उसका आचरण करता है। जहां ये तीनों एकांगी हो जाते हैं, वहां मोक्षावस्था को प्राप्त करना कैसे संभव है? इन तीनों के समन्वित हुए बिना मोक्ष का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। इसलिए इन तीनों का मिलना आवश्यक है। जहां ये तीनों मिलते हैं, वहां व्यक्ति को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, आत्मा का निश्चय होता है। वहां व्यक्ति का सत्यबोध के लिए सापेक्ष और अनाग्राही दृष्टिकोण निर्मित होता है और वहां व्यक्ति राग-द्वेष के आवेश से मुक्त, समता के आचरण को स्वीकार करता है। इस रत्नत्रय की सम्यक् आराधना अध्यात्म की दृष्टि से महान साधना है। यह जैनधर्म की महानता को, परमता को परिलक्षित करने वाला सूत्र है।

3. समन्वय का आधार : स्याद्वाद (अनेकान्तवाद)

समन्वय को स्थापित करने वाला जैनधर्म का एक महान सिद्धांत है–स्याद्वाद (अनेकान्तवाद)। यह विशिष्ट सिद्धांत धार्मिक, सैद्धांतिक और वैचारिक जगत में जैनधर्म की एक विशेष देन है। जैनधर्म महान क्यों? इसका यह एक बहुत बड़ा फलित है। स्याद्वाद के द्वारा जैनधर्म ने इतनी उदारता के साथ इस बात को स्वीकार किया कि दूसरा दर्शन भी सत्य है। कितना उदार दृष्टिकोण। जितने दर्शन हैं, जितने सम्प्रदाय हैं, जितने विचार हैं, वे सब सत्य हैं, असत्य नहीं है। असत्य तब बनते हैं, जब वे निरपेक्ष बन जाते हैं। सापेक्ष हैं तो सब सत्य है। सब विचारों की सत्यता की स्वीकृति एक बहुत बड़ा सिद्धांत है और यह जैनधर्म की एक अलग पहचान बनाने वाला सिद्धांत है।

4. सृष्टि की शाश्वतता

सृष्टि की शाश्वतता को स्वीकार कर जैनधर्म ने विश्व के सामने न केवल ईश्वर कर्तृत्व का निरसन किया, अपितु उसके स्थान पर आत्मकर्तृत्व के महत्त्व को भी उजागर किया। इस सिद्धांत के आधार पर

जैन दर्शन ने समूचे जगत में सत्य की महानता को प्रतिपादित किया। उसने कहा–ध्यानसिद्ध मनुष्य विश्व को अंतर्दृष्टि से देखता है और बौद्धिक मनुष्य उसे तार्किक दृष्टि से देखता है। आज का जैन दर्शन इन दोनों के निरुपण का प्रतिफलन है। यह इसकी महानता को गुंजायमान रखने का एक बहुत बड़ा कारण है। यह विश्व कब बना? इस प्रश्न के समाधान में जैन दर्शन में कहा गया–इस विश्व का कोई ओर-छोर नहीं है। यह अनादि-अनन्त है। इसका आदि बिंदु निकाला नहीं जा सकता, इसलिए नहीं निकाला जा सकता कि इस विश्व में जितने तत्त्व पहले थे, उतने ही हैं और उतने ही रहेंगे। जीव और अजीव में एक भी तत्त्व, एक भी अणु न नया जन्म लेता है और न पुराना नष्ट होता है। जितना था, उतना है और उतना ही रहेगा। अतीत में जितने पदार्थ थे, वर्तमान में भी वे हैं और अनन्त भविष्य में भी वे पदार्थ बराबर बने रहेंगे। वे न कम होंगे, न अधिक। इसलिए यह विश्व कब बना इसका आदि बिंदु खोजा नहीं जा सकता। यह विश्व की शाश्वतता का सिद्धांत है। उसका अनादि परिणमन सिद्ध करता है।

फिर पूछा गया–यह विश्व कैसे बना?

जीव और अजीव–ये दो मूल तत्त्व है। इनका संयोग होता रहता है और उस संयोग ने इस सृष्टि का निर्माण किया। प्रश्न होता है, दूध कैसे बना? गाय ने घास खाई और दूध बन गया। विश्व का जितना विकास है, वह सारा यौगिक है। उसमें जीव और अजीव–इन दो तत्त्वों का योग है।

5. सुख-दुःख स्वकृत

जैन धर्म में एक सूत्र व्याख्यायित हुआ–''**अप्पा कत्ता विकत्ता य**'' आत्मा ही सुख-दुःख की कर्त्ता है और वही भोक्ता है। वही सुख-दुःख का अंत करने वाली है और वही सुख-दुःख देने वाली है। कोई भी बाहरी शक्ति आत्मा को सुख-दुःख नहीं दे सकती। वह तो सिर्फ निमित्त मात्र बन सकती है। सुख-दुःख तो उसी के किए हुए कर्मों का फल है। इस विश्वास के दृढ़ होने पर व्यक्ति उच्च मनोबल के साथ अपने पुरुषार्थ को महत्त्व देता है तथा मन को शांत एवं स्थिर कर विपरीत परिस्थितियों का भी धैर्यपूर्वक सामना करता है। यह न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास का सूत्र बनता है अपितु जैनधर्म की महानता को भी परिलक्षित करता है।

6. त्रिपदि-उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य

जैन धर्म सत्य की खोज और उसकी व्याख्या का धर्म है। सत्य की खोज का अर्थ है–नियमों की खोज। वैज्ञानिक पहले नियमों को खोजता है, फिर नियम की खोज के आधार पर कार्य करता है। जैन दर्शन ने नियमों को खोज अपना चिंतन प्रस्तुत किया। उसने कहा– इस विश्व में दो मूल तत्त्व है–जीव और अजीव। ये त्रिपदि से युक्त हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनके अस्तित्व का लक्षण है। यह संसार के प्रत्येक पदार्थ का सिद्धांत है। परमाणु से लेकर आत्मा तक हर एक पदार्थ (द्रव्य) इसमें सम्मिलित है।

जो ध्रुव है, शाश्वत भी है और जिसके नए-नए पर्याय उत्पन्न भी होते रहते हैं और नष्ट भी होते रहते हैं। अर्थात् उत्पाद और व्यय का क्रम चालू रहता है। जैसे–दूध से दही बना। यहां पर दूध का

विनाश भी हुआ और दही के रूप में नया पयार्य उत्पन्न भी हो गया। उदाहरण स्वरूप समझे तो यहां पर दोनों ही अवस्थाओं में गोरस की एकरूपता ध्रौव्य के रूप में समझी जा सकती है। ठीक इसी प्रकार परमाणु, आत्मा, आकाश आदि द्रव्यों के सिद्धांत को समझना चाहिए। इसे कई दार्शनिक ईश्वर कर्तृत्व के साथ जोड़ उत्पत्ति, लय, ईश्वर इस दृष्टि से भी देखते हैं। यह त्रिपदि का ज्ञान सत्य को समझने के लिए, जैन दर्शन के एक विशेष दृष्टिकोण का सूचक है। यह सिद्धांत जैनधर्म की महानता को सिद्ध करने वाला है।

7. मानव जाति की एकता

''**एक्का माणुस जाई**'' मानव जाति एक है। इस सूत्र को प्रतिपादित कर जैन धर्म ने न केवल जातिवाद, दासप्रथा आदि का ही तीव्र विरोध किया, अपितु उसके साथ ही साथ आध्यात्मिक जगत में स्त्री जाति को भी पुरुष के बराबर स्थान दिया। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यह स्थापना करना भगवान महावीर के एक विशिष्ट मनोबल का सूचक है। इतिहास में जाए तो कहीं नहीं मिलता कि महावीर से पहले किसी अन्य सम्प्रदाय में स्त्री को दीक्षित किया हो। पहला ही इतिहास है कि भगवान महावीर ने स्त्रियों को दीक्षा दी और उनका एक व्यवस्थित संगठन खड़ा किया। महात्मा बुद्ध ने भी स्त्रियों को दीक्षित किया। भिक्षुणियां बनाई, किंतु बहुत बाद में और बड़ी हिचकिचाहट के साथ। जब गौतमी का प्रसंग आया, तब आनंद ने कहा–भंते! गौतमी को दीक्षित करें। बुद्ध ने कहा–ठीक नहीं होगा, यह कहकर अस्वीकार कर दिया। बहुत अनुरोध करने पर बुद्ध ने स्वीकार किया, पर कहा–आंनद! मेरे धर्म का पांच सौ वर्ष का आयुष्य क्षीण हो जाएगा। यानी बौद्ध धर्म लड़खड़ा जाएगा।

भगवान महावीर ने समता की स्थापना की और साथ-साथ में व्यवस्था भी रखी। आज से ढाई हजार वर्ष के इतिहास में हजारों-हजारों भिक्षुणियां उनके संघ में हुई, किंतु उनका धर्मसंघ कभी लड़खड़ाया नहीं। यह जैनधर्म महान क्यों? इसका यह एक बहुत बड़ा फलित है।

जैनधर्म ने जातिवाद को अतात्त्विक माना, जन्मना जाति को अस्वीकार किया। भगवान महावीर के समय में ब्राह्मण परंपरा में जातिवाद को तात्त्विक मान्यता मिली थी कि जाति जन्मना होती है। जन्मना जातिवाद प्रचलित था। जाति के आधार पर आदमी ऊंचा और नीचा माना जाता था। जाति के आधार पर आदमी छूत और अछूत माना जाता था। वर्ण-व्यवस्था चल रही थी, जो वर्ण-व्यवस्था थी, उसमें चार वर्ण माने गए थे। उन चारों वर्णों को सामने रखकर महावीर ने कहा कि ब्राह्मण भी कर्म से होता है, क्षत्रिय भी कर्म से होता है, वैश्य और शूद्र भी कर्म से होता है। कर्मणा जाति है, जन्मना जाति नहीं है। जाति के आधार पर कोई ऊंचा-नीचा नहीं होता।

भगवान महावीर ने चाण्डाल को दीक्षित किया। जैन धर्म में सब जाति के लोग दीक्षित हुए–क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी। चाण्डाल भी दीक्षित हए। दीक्षित होने के बाद सबके साथ पूर्ण समता, कोई भेदभाव नहीं, एकात्मकता, कहीं कोई अंतर नहीं, बल्कि यह कहा–चाण्डाल जाति के हरिकेश मुनि के प्रसंग में–

साक्षात् देखो। यह तपस्या की विशेषता है, आचार की विशेषता है, चरित्र की विशेषता है, गुण की विशेषता है, जाति की कोई विशेषता नहीं है। देखो चाण्डाल-पुत्र हरिकेश साधु को सारे ब्राह्मण कुमार और ऋषि वंदना कर रहे हैं। इसका इतना प्रभाव और महत्त्व है। महावीर ने अस्पृश्यता और छुआछूत को सर्वथा अस्वीकार किया। उन्होंने कहा–आदमी कोई अस्पृश्य नहीं होता, घृणित नहीं होता। उन्होंने घृणा पर इतना तीखा प्रहार किया कि घृणा करने वाला मोहनीय कर्म का बंध करता है और मूढ़ता को प्राप्त होता है। यह जैन धर्म का एक विशिष्ट दर्शन है। एक विशेष दृष्टिकोण है।

उपसंहार

जैनधर्म महान क्यों? इसका यह एक गौरवशाली उत्तर है कि इन सब विशेषताओं वाला यह जैनधर्म महान है। इसलिए इसे संख्या से नहीं आंका जा सकता और गणित की भाषा में इसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह शक्तिशाली धर्म है। इसके सिद्धांत जनता के लिए कल्याणकारी है। वर्तमान के जन-मानस पर इसने अपना गहरा प्रभाव छोड़ा है। दूध में चीनी मिल गई। चीनी का अस्तित्व अलग से दिखाई नहीं देता। किंतु पूरा दूध चीनी से प्रभावित हो गया, पूरे दूध में मिठास आ गई। जैनधर्म अलग से चाहे दिखाई दे या न दें, किंतु जैनधर्म के चिंतन ने युगचिंतन को इतना प्रभावित किया कि आज जैन धर्म और दर्शन का विश्लेषण करें या युगचिंतन को बताए, दोनों में इतना सामीप्य है, इतनी निकटता है कि वे दो बिंदु जैसे लगते नहीं, एक बिंदु पर एकमेक हो जाते हैं। इसलिए यह जैन धर्म महान है।

पाठ-2 तेरापंथ दर्शन

आचार्य भिक्षु सहज प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने आगमों का गहन अध्ययन किया, आगम उनके हृदयंगम से हो गए। आगमों के आलोक में उन्होंने अहिंसा, दान, दया आदि का जो विवेचन किया, वह सत्य की सूक्ष्मता को दर्शाने वाला था। इसलिए वह चिंतन शाश्वतता की तुला में तोला जा सकता है। आचार्य भिक्षु ने धर्म का मर्म समझाया। उन्होंने कहा–जहां आत्मशुद्धि है, वहा धर्म है। जहा धर्म है, वहीं अहिंसा, दान, दया आदि का शुद्ध स्वरूप है।

*** दया**

दया–पापाचरणादात्मरक्षादया–पापमय आचरणों से आत्मा की रक्षा करना दया है।

उनकी वाणी है–हिंसा में धर्म नहीं है, भले ही फिर वह आवश्यक ही क्यों ना हो। उसे अहिंसा या दया तो निश्चय ही नहीं कहा जा सकता। बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों का घात पुण्य नहीं है। दुनिया में मात्स्य न्याय चल रहा है। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है वैसे ही बड़े जीव छोटे जीवों को खा रहे हैं। खाना स्वाभाविक-सा है, पर इस कार्य में धर्म बतलाना, सुबुद्धि का कार्य नहीं। उन्होंने आगे कहा- हिंसा करने वाला ही नहीं, हिंसा करने वालों की सेवा, रक्षा व भरण-पोषण करने वाला भी हिंसा के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता। उदाहरण स्वरूप जो मनुष्य बंदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद दिखाई नहीं पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो, तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है, जितना कि वह खुद डाकू। इसी दृष्टि से आचार्य भिक्षु कहते हैं, जिन जीवों के छः जीवनिकायों को मारने का त्याग नहीं है, जो हिंसा में रत हैं। वे जीव दूसरे जीवों के लिए शस्त्र हैं। उनकी सेवा करना, उनका भरण-पोषण आदि करना धर्म नहीं, अपितु शस्त्र को तीक्ष्ण करना ही है। उनका यह सिद्धांत बहुत ही स्पष्ट है। उन्होंने अहिंसा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा–अहिंसा का उद्देश्य है–हृदय परिवर्तन। अहिंसा का उद्देश्य है–आत्मशुद्धि। जीव-रक्षा अहिंसा का परिणाम हो सकता है, परन्तु उद्देश्य नहीं। उद्देश्य तो आत्मशुद्धि ही रहेगा। उन्होंने इसे तीन दृष्टांतों द्वारा स्पष्ट किया है–

भिक्षु के दृष्टान्त

1. एक सेठ की दुकान में साधु ठहरे हुए थे। करीब रात के बारह बज रहे थे। गहरा सन्नाटा था। नि:स्तब्ध वातावरण में चारों ओर मूक शांति थी। चोर आए, सेठ की दुकान में घुसे। ताला तोड़ा। धन की थैलियां ले मुड़ने लगे। इतने में उनकी नि:स्तब्धता भंग करने वाली आवाज आई–भाई! तुम कौन हो? उनको कुछ कहने या करने का मौका ही नहीं मिला कि तीन साधु सामने आ खड़े हो गए। चोरों ने देखा–साधु हैं, उनका भय मिट गया और उत्तर में बोले–महाराज! हम चोर हैं, उन्हें यह विश्वास था कि साधुओं द्वारा हमारा अनिष्ट होने वाला नहीं है, इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा–महाराज! हम चोर हैं। साधुओं ने कहा–भाई इतना बुरा काम करते हो, यह ठीक नहीं।

साधु बैठ गए और चोर भी। अब दोनों का संवाद चला। साधुओं ने चोरी की बुराई बताई व चोरों ने अपनी परिस्थिति। बहुत समय बीत गया। दिन हो चला। आखिर चोरों पर उपदेश असर कर गया। उनके हृदय में परिवर्तन आया। उन्होंने चोरी को आत्म-पतन का कारण मान उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया। उन्होंने चोरी न करने का नियम ले लिया। अब वे चोर नहीं रहे, इसलिए उन्हें भय भी नहीं रहा। कुछ उजाला हुआ, लोग इधर उधर घूमने लगे। वह सेठ भी घूमता हुआ अपनी दुकान के पास से निकला। टूटे ताले और खुले किवाड़ देखकर अवाक् सा हो गया। तुरन्त ऊपर आया और देखा कि दुकान की एक बाजू में चोर बैठे साधुओं से बातें कर रहे हैं और उनके पास धन की थैलियां पड़ी हैं। सेठ को आशा बंधी। कुछ कहने जैसा हुआ, इतने में चोर बोले–सेठजी! यह आपका धन सुरक्षित है, चिन्ता न करें। यदि आज ये साधु यहाँ न होते तो आप भी करीब करीब साधु जैसे बन जाते। यह मुनि के उपदेश का प्रभाव है कि हम लोग सदा के लिए इस बुराई से बच गए और साथ-साथ आपका यह धन भी बच गया। सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ।

अपना धन संभाल मुनि को धन्यवाद देता हुआ अपने घर चला गया। यह पहला चोर का दृष्टान्त है। इसमें दो बातें हुईं।

एक तो साधुओं का उपदेश सुन चोरों ने चोरी छोड़ी। इसमें चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची और दूसरी उसके साथ सेठजी का धन भी बचा।

अब सोचना यह है कि अहिंसा क्या है? चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची वह है या सेठजी का धन बच गया, वह?

2. कसाई बकरों को लेकर जा रहे थे। उन्हें मार्ग में साधु मिले। उनमें से प्रथम साधु ने कसाइयों को संबोधित करते हुए कहा–भाई! इन बकरों को भी मौत प्रिय नहीं है, यह तुम जानते हो, इनको कष्ट होता है, पीड़ा होती है, तुम्हें मालूम है? खैर! इसे जाने दो। इनको मारने से तुम्हारी आत्मा मलिन होगी, इसका परिणाम दूसरा कौन भोगेगा? मुनि का उपदेश सुन कसाइयों का हृदय बदल गया। उन्होंने उसी समय बकरों को मारने का त्याग कर लिया और आजीवन निरपराध त्रसजीवों की हिंसा का भी प्रत्याख्यान कर लिया। कसाई अहिंसक-स्थूल हिंसा के त्यागी बन गए।

यह दूसरा कसाइयों का दृष्टांत है। इसमें भी साधु के उपदेश से दो बातें हुईं। एक तो कसाई हिंसा से बचे। दूसरी उनके साथ बकरे मौत से बचे। अब सोचना यह है कि अहिंसा क्या है? कसाई

हिंसा से बचे, वह है या बकरे बचे वह? चोर चोरी के पाप से बचे और कसाई हिंसा से, यहाँ उनकी आत्मशुद्धि हुई। इसलिए यह नि:सन्देह अहिंसा है। चोरी और जीव-वध के त्याग से अहिंसा हुई। किंतु इन दोनों के साथ-साथ दो कार्य और हुए। धन और बकरे बचे। यदि इन्हें भी अहिंसा या दया से जोड़ दिया जाए तो तीसरे दृष्टान्त पर ध्यान देना होगा।

3. अर्धरात्रि का समय था। बाजार के बीच एक दुकान में तीन साधु स्वाध्याय कर रहे थे। संयोगवश तीन व्यक्ति उस समय उधर से निकले। साधुओं ने उनको देखा और पूछा–भाई! तुम कौन हो? रात्रि के समय में कहाँ जा रहे हो? यह प्रश्न उनके लिए एक भय था। वे मन ही मन सकुचाए और उन्होंने देखने का यत्न किया कि प्रश्नकर्ता कौन है। देखा तब पता चला कि हमें इसका उत्तर साधुओं को देना है–सच कहें या झूठ? आखिर सोचा–साधुओं के सामने झूठ बोलना ठीक नहीं। कहते हुए संकोच होता है, न कहें, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे इनकी अवज्ञा होती है। यह सोच वे बोले–'महाराज! क्या कहें! आदत के लाचारी हैं। हम पापी जीव हैं, वेश्या के पास जा रहे हैं। साधु बोले–'तुम भलेमानस दिखते हो, सच बोलते हो, फिर भी ऐसा अनार्य कर्म करते हो? तुम्हें यह शोभा नहीं देता। विषय-सेवन से तुम्हारी वासना नहीं मिटेगी। घी की आहुति से आग बुझती नहीं। साधु का उपदेश हृदय तक पहुँचा और उन्होंने तत्काल उस जघन्य वृत्ति का त्याग (प्रत्याख्यान) कर डाला। वह वेश्या बहुत देर तक उनकी प्रतीक्षा करती रही। आखिर वे आए ही नहीं, तब वह स्वयं उनकी खोज में चल पड़ी और वहाँ पहुँच गई। उसने युवकों को अपने साथ चलने के लिए आग्रह किया, किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। वह व्याकुल हो रही थी। उसने कहा–'आप चलें, नहीं तो मैं कुएं में गिरकर आत्महत्या कर लूंगी। युवकों ने कहा–'हम जिस कर्म को छोड़ चुके, उसे फिर नहीं अपनाएंगें।' उसने तीनों का उपेक्षाभाव देखकर कुएं में गिरकर आत्महत्या कर ली। यह तीसरा व्याभिचारियों का दृष्टांत है। दो बातें इसमें भी हुई। एक तो साधु के उपदेश से व्याभिचारियों का दुराचार छूटा और दूसरी उनके कारण वह वेश्या कुएं में गिरकर मर गई। अब कुछ ऊपर की ओर चले। यदि चोरी, त्याग के प्रसंग में बचने वाले धन से चोरों को, हिंसा-त्याग के प्रसंग में बचने वाले बकरों से कसाइयों को अहिंसा हुई मानी जाए तो व्यभिचार-त्याग के प्रसंग में वेश्या के मरने के कारण उन तीनों व्यक्तियों के हिंसा का पाप हुआ, यह भी मानना होगा।

इसलिए जीव रक्षा को अहिंसा का परिणाम तो मान सकते हैं, पर प्रयोजन नहीं। नदी के जल से भूमि उपजाऊ होती है, पर नदी इस उद्देश्य से बहती है, यह नहीं कहा जा सकता। सारांश में कहे तो जहां अहिंसा है, वहां दया धर्म है और जहां हिंसा है, वहां पाप है।

* दान

दान–सुपात्र को दान देना संयमी दान है।

दान भारतीय साहित्य का सुपरिचित शब्द है। भारतीय साहित्य के हजारों-लाखों पृष्ठ दान की मीमांसाओं से भरे हैं। आचार्य भिक्षु ने इस अध्याय में कुछ पृष्ठ और जोड़ दिए। उन्होंने दान का मोक्ष और संसार की दृष्टि से विश्लेषण किया। उनका अभिमत है कि जो लोग समूचे दान को धर्म मानते

हैं, वे धर्म की शैली को नहीं जान पाए हैं। वे आक और गाय के दूध को एक मान रहे हैं। मोक्ष का मार्ग संयम है। असंयमी को दान दिया जाए और उसे मोक्ष का मार्ग बताया जाए, यह विरोध है। दान को धर्म बताए बिना लोग देते नहीं, इसलिए संभव है दान को धर्म बताया गया है।

आचार्य भिक्षु की समूची दान-मीमांसा का सार इन शब्दों में है कि संयमी को दिया जाए, वह दान मोक्ष का मार्ग है और असंयमी को दिया जाए, वह दान संसार का मार्ग है। संयमी को देने से संसार घटता है और असंयमी को दान देने से संसार बढ़ता है।

संयमी-असंयमी की परिभाषा करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा–जो पूर्ण अहिंसक हो, वह संयमी है और जो मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित और अनुमति से अहिंसा का पालन न करे, वह असयंमी है।

पात्र की अपेक्षा से असंयमी मोक्ष-दान का अधिकारी नहीं है। जिसके कुछ व्रत हों, वह संयमा-संयमी भी मोक्ष-दान का अधिकारी नहीं है। अतः निष्कर्ष की भाषा में कहें तो दान का शुद्ध स्वरूप वही है, जहां पात्र (दान लेने वाला), दाता (दान देने वाला) और आहार तीनों शुद्ध है और जहां तीनों में से एक भी अशुद्ध है, वह दान मोक्ष मार्ग से भिन्न संसार का मार्ग है।

एक दादूपंथी संप्रदाय का साधु आचार्य भिक्षु का व्याख्यान सुनने आया। वह व्याख्यान सुन बहुत प्रसन्न हुआ। वह बहुत बार आने लगा। एक दिन उसने आचार्य भिक्षु से कहा–'आप अपने श्रावकों से कह दें कि वे मुझे रोटी खिलाएं।' भिक्षु बोले–'श्रावकों को कहकर तुम्हें रोटी खिलाएं, चाहे हम अपनी रोटी तुम्हें दें, इसमें क्या अंतर है?' तब उसने कहा–'तो आप दान का निषेध करते हैं?' आचार्य भिक्षु ने कहा–'देने वालों को मनाही करो, चाहे किसी से छीन लो, इसमें क्या अंतर है?'

लोग कहते हैं–आचार्य भिक्षु ने दान का निषेध किया है। आचार्य भिक्षु का अभिमत है कि निषेध करने में और छीनने में कोई अंतर नहीं है। उनकी वाणी है–दाता दे रहा हो, लेने वाला ले रहा हो। उस समय साधु उसे रोके तो लेने वाले के अंतराय आती है, इसलिए साधु वैसा नहीं कर सकता। साधु वर्तमान में असंयमी-दान की न तो प्रशंसा करे और न उसका निषेध करे, किंतु मौन रहे। धर्म-चर्चा के प्रसंग में दान के यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण करे।

इस पर भी कुछ लोगों ने कहा–दान को धर्म न मानने का अर्थ ही उसका निषेध है। आचार्य भिक्षु ने इसका समाधान किया कि दान देने वाले को कोई कहे कि तू मत दे, वह दान का निषेध करने वाला है, किंतु दान जिस कोटि का हो उसी कोटि का बतलाया जाए, वह निषेध नहीं है, वह ज्ञान की निर्मलता है। भगवान ने असंयमी को दान देने में धर्म नहीं कहा, इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान ने दान का निषेध किया है। इसका अर्थ इतना ही है कि जिसका जो स्वरूप था, वही बतला दिया।

किसी व्यक्ति ने साधु से कहा–तुम मेरे घर भिक्षा लेने मत आना। दूसरे व्यक्ति ने साधु को गालियां दी। जिसने निषेध किया, उसके घर साधु भिक्षा लेने नहीं जाता है किन्तु जिसने गालियां दी, उसके घर भिक्षा लेने जाता है। कारण यह है कि निषेध करना और कठोर वचन बोलना एक भाषा में

नहीं समाते। इसी प्रकार दान देने का निषेध करना और दान को अधर्म बतलाना भिन्न-भिन्न भाषाएं हैं। इनका एक ही भाषा में समावेश नहीं होता।

❊ लौकिक और लोकोत्तर

आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण रहा, जिस कार्य से संसार चले, बंधन हो। उसी से यदि मुक्ति मिले तो फिर बंधन और मुक्ति को भिन्न-भिन्न मानने की क्या आवश्यकता? इसलिए उन्होंने कहा–दोनों का अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना महत्त्व है। एक में कर्त्तव्य की प्रधानता है और एक में अध्यात्म की प्रधानता है। एक लौकिक है और एक लोकोत्तर। जहां संयम और असंयम का विचार प्रधान न हो, किंतु करुणा ही प्रधान हो, वह लौकिक है और जहां करुणा संयम से अनुप्राणित हो, वह लोकोत्तर है।

कुएं में गिरते हुए को किसी ने उबारा, वह लौकिक उपकार है और पाप के कुएं में गिरते हुए को किसी ने उबारा, वह लोकोत्तर उपकार है। किसी दरिद्र को धन-धान्य से संपन्न कर सुखी बना देना लौकिक उपकार है। एक आदमी तृष्णा की आग में झुलस रहा है, उसे उपदेश देकर शांत बना देना लोकोत्तर उपकार है।

यहां एक में समाज और कर्त्तव्य की प्रधानता है, वह लौकिक उपकार है और दूसरे में संयम और अध्यात्म की प्रधानता है, वह लोकोत्तर उपकार है। आचार्य भिक्षु ने कहा–एक सांसारिक उपकार है, उससे संसार की परम्परा चलती है और एक आध्यात्मिक उपकार है, उससे संसार का अंत होता है अर्थात् मुक्ति होती है। जो इन दोनों को एक मानता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है और जो इन्हें भिन्न-भिन्न मानता है, वह सम्यक्दृष्टि होता है।

❊ साध्य-साधन शुद्धि

साधन बीज है और साध्य वृक्ष, इसलिए जो संबंध बीज और वृक्ष में है, वही संबंध साधन और साध्य में है।

आध्यात्मिक जगत का साध्य है–आत्मा की आत्मिक पवित्रता और उसका साधन भी वही है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नहीं बन सकती। पहले क्षण का साधन दूसरे क्षण में साध्य बन जाता है और वही उसके अगले चरण का साधन बन जाता है। पहले क्षण का जो साध्य है, वह अगले क्षण के लिए साधन है। पवित्रता ही साध्य है और वही साधन।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धान्तिक रूप दिया, वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए, इस विचार को उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली, वह उनसे पहले नहीं मिली। साध्य और साधन की शुद्धि का सिद्धान्त अब राजनीतिक चर्चा में भी उतर आया है।

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था–शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है–संयम। वह संयम

के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति लड्डुओं के लिए तपस्या करते हैं, वे कभी भी धर्मी नहीं है और इस उद्देश्य से तपस्या करने वालों को जो लड्डू खिलाते हैं, वे भी धर्मी नहीं हैं।

जो साधन अच्छे नहीं होते वे साध्य का ही अन्त कर देते हैं–इसका उदाहरण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है। देव, गुरु और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है। उपासना का साधन है–अहिंसा। किन्तु जो व्यक्ति हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह उपासना के मार्ग से भटक जाता है। जो हिंसा के द्वारा धर्म करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वह है, जो धर्म के लिए हिंसा नहीं करता।

लोहू से लिपटा हुआ पीताम्बर लोहू से साफ नहीं होता। इसी प्रकार हिंसा से हिंसा का शोधन नहीं होता। वर्तमान राजनीति में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं–साम्यवादी और इतर साम्यवादी। जनता का जीवन स्तर ऊंचा करना दोनों का लक्ष्य है, पर पद्धतियाँ दोनों की भिन्न हैं।

साम्यवादी विचारधारा यह है–लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नहीं है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनों का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए। एक बार थोड़ा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है। इतर साम्यवादी विचारधारा यह है कि जितना महत्त्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का। लक्ष्य की पूर्ति येन-केन-प्रकारेण नहीं, किन्तु उचित साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए।

आचार्य भिक्षु के समय में भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देने वाली मान्यता थी। उसके अनुयायी कहते थे–प्रयोजनवश धर्म के लिए भी हिंसा का अवलम्बन लिया जा सकता है। एक बार थोड़ी हिंसा होती है, किंतु आगे उससे बहुत धर्म होता है।

आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा–बाद में धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नहीं बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है।

जिसके मन में दया का भाव उठा, उसके लिए दया का साधन है–उपदेश और जिसके मन में दया का भाव उत्पन्न करना है, उसके लिए दया का साधन है–हृदय-परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है–मोक्ष, आत्मा का पूर्ण विकास। उसके साधन है–सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अज्ञानी को ज्ञानी और असंयमी को संयमी बनाना साध्य के अनुकूल है।

यह साध्य और साधन की संगति है। इसकी विसंगति तब होती है, जब या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन।

पाठ-3 तेरापंथ और मूर्तिपूजा

जैनशासन में दो प्रकार की विचारधाराएं रही हैं। एक विचारधारा मूर्तिपूजा या द्रव्यपूजा का समर्थन करती है और दूसरी विचारधारा भावपूजा में विश्वास करती है। जैन धर्म के मुख्य चार सम्प्रदाय हैं। उनमें एक है–तेरापंथ। प्रस्तुत प्रकरण में यहां प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से मूर्तिपूजा से संदर्भित तेरापंथ की मान्यताओं का वर्णन है। प्रस्तुत प्रश्नात्मक वर्णन परम पूज्य आचार्यश्री तुलसी के तेरापंथ ओर मूर्त्तिपूजा का सारांश है।

प्रश्न 1–तेरापंथ की आस्था मूर्तिपूजा या द्रव्यपूजा में नहीं है तो क्या आप मूर्ति या प्रतिमा को नहीं मानते?

उत्तर–नहीं, हम मूर्तिपूजक नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम मूर्ति को मूर्ति नहीं मानते। आचार्य भिक्षु से किसी भाई ने पूछा–क्या आप मूर्ति को नहीं मानते? आचार्य भिक्षु बोले–मूर्ति को मूर्ति नहीं मानने से मिथ्यात्व आ जाता है। हम सोने की मूर्ति को सोने की, चांदी की मूर्ति को चांदी की। इस प्रकार जिस धातु आदि की मूर्ति हो, उसे हम उसी धातु आदि की मूर्ति मानते हैं। उस भाई ने कहा–मैंने सुना है कि आप मूर्ति को भगवान नहीं मानते? आचार्य भिक्षु–आपने जो कुछ सुना है, वह ठीक है। पर हम मूर्ति को भगवान किस आधार पर मानें? उसमें न चैतन्य है, न ज्ञान है, न दर्शन है और न ही चारित्र है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और चैतन्यशून्य प्रतिमा को ही भगवान कहने या मानने का आग्रह हो तो हम उसे स्थापना भगवान कह सकते हैं।

प्रश्न 2–ये स्थापना भगवान क्या होते हैं? इनमें और भगवान में क्या अंतर है?

उत्तर–किसी व्यक्ति या वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए आगमों में निक्षेप पद्धति को काम में लिया गया है। जिस शब्द के जितने अर्थों का ज्ञान हो उतने निक्षेप हो सकते हैं। जहां बहुत निक्षेप ज्ञात न हो, वहां आगमों में कहा गया, कम से कम चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य किया जाए। वे चार निक्षेप हैं–नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। प्रस्तुत श्लोक के द्वारा इन्हें सरलता से समझा जा सकता है–

नाम जिना जिन नामा, ठवणा जिना होंति पडिमाओ।
द्रव्व जिना जिन जीवा, भाव जिना समवसरणत्था।।

नाम निक्षेप–किसी भी व्यक्ति का जिन नामकरण किया गया हो, वह नाम जिन है।

स्थापना निक्षेप–कोई प्रतिमा आदि का आकार जिन की तरह हो, वह स्थापना जिन है।

द्रव्य निक्षेप–भविष्य में जिन बनने वाला व्यक्ति, जब तक जिन नहीं बन जाता, वह द्रव्य जिन है।

भाव निक्षेप–जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो चुका है और जो समवसरण में विराजमान हैं, वे तीर्थंकर भगवान भाव जिन हैं।

इसी प्रकार अर्हत्, महावीर आदि के उदाहरण ज्ञातव्य है। यहां पूज्यता-अपूज्यता की दृष्टि से देखा जाए तो इन चारों निक्षेपों में भाव जिन ही वास्तविक हैं, वे ही वंदनीय-पूजनीय हैं। बाकी के शेष तीनों नाम, स्थापना और द्रव्य की अपेक्षा मात्र से जिन हैं, गुणों की अपेक्षा से नहीं। इसलिए पूजनीय वे ही हैं, जो जिन के गुणों से सम्पन्न हैं और वर्तमान में जिन हैं।

प्रश्न 3–आप प्रतिमा-पूजा-(द्रव्य-पूजा) का निषेध करते हैं तो फिर उसे एकाग्रता का आलम्बन क्यों मानते है?

उत्तर–पूजा करना एक बात है और आलम्बन मानना दूसरी बात है। प्रतिमा को एकाग्रता का आलम्बन मानने में कौनसी बाधा है। आलम्बन या निमित्त तो कुछ भी हो सकता है, पर इससे वह पूज्य हो जाए यह नहीं कहा जा सकता। नमि राजर्षि के वैराग्य का निमित्त क्या था? रानियों की चूड़ियों से उनको प्रतिबोध मिला। क्या इतने मात्र से वे पूज्य बन जाएगी? समुद्रपाल को चोर की पिटाई देखकर वैराग्य हो गया। क्या उसने चोर की पूजा की? आलम्बन बनने मात्र से पूजा की अर्हता प्राप्त हो तो चूड़ियों और चोर की पूजा क्यों नहीं की गई? आलम्बन मानने और पूजा करने में कोई तालमेल भी नहीं है। पूजा का अधिकारी तो वह है, जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण हो और जहां तक मूर्ति का सवाल है, उसका सम्बन्ध मंदिरों के साथ है। मन्दिर किसी भी देश के लिए उसकी सांस्कृतिक धरोहर होते हैं। स्थापत्य कला और पुरातत्त्व की दृष्टि से भी उनका महत्व है, पर इतने मात्र से वह पूज्य कैसे हो सकती हैं।

प्रश्न 4–आप अपने प्रवचनों में अनेक बार कहते हैं–'मैं अमुक मंदिर में गया, वहां तीर्थंकरों की स्तवना की, ध्यान किया, जप किया आदि।' जब आप स्वयं मंदिरों में जाते हैं तो आप अपने श्रावकों को वहां जाने की प्रेरणा क्यों नहीं देते?

उत्तर–हम लोग यात्रा के दौरान अनेक स्थानों पर ठहरते हैं। इस क्रम में हम उपाश्रय, स्थानक, सभा-भवन, चर्च, मठ, मंदिर, अखाड़ा आदि अनेक धर्मस्थानों में रहते हैं। हम जहां-कहीं प्रवास करते हैं, वहां प्रवचन, भजन-कीर्तन, स्वाध्याय, ध्यान आदि नियमित रूप से करते हैं। चाहे स्कूल, धर्मशाला, विश्राम-भवन आदि सार्वजनिक स्थान हो या किसी गृहस्थ का व्यक्तिगत मकान हो अथवा कोई धर्म स्थान हो, हमारे प्रवासस्थल पर धर्माराधना होती ही है। चूंकि हमारा विश्वास भावपूजा में है, भावपूजा किसी भी स्थान में बैठकर की जा सकती है। कभी हम प्रसंगवश उपाश्रय, मंदिर आदि धार्मिक स्थलों में प्रवास करते हैं और कभी इनका निरीक्षण करने के लिए चले जाते हैं। पर इसके साथ हमारा पूजा-प्रतिष्ठा आदि का कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न 5–तेरापंथी लोगों की मूर्तिपूजा या द्रव्यपूजा में आस्था नहीं है, यह हमने जाना। पर हम देखते हैं कि तेरापंथी श्रावक शादी-विवाह, जन्म-मरण, जात-झड़ूला आदि प्रसंगों पर माताजी, बालाजी, भैरुंजी, पितरजी आदि अनेक देवों की पूजा करते हैं, आरती करते हैं, सीरणी चढ़ाते हैं फिर वे लोकोत्तर देव-तीर्थंकरों की प्रतिमा को क्यों नहीं पूजते?

उत्तर–लौकिक देवों की पूजा लौकिक दृष्टि से की जाती है। वहां मोक्ष, धर्म या अध्यात्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका उद्देश्य पुत्र- प्राप्ति, धन-प्राप्ति, व्यवसाय में सफलता आदि लौकिक लक्ष्य से तथा विघ्नबाधा आदि को दूर करने के लिए एक श्रावक पूजा-प्रतिष्ठा से जुड़ता है। यह कोई नई बात नहीं है। प्राचीनकाल में भी बारहव्रती श्रावकों द्वारा नाग, भूत, यक्ष आदि लौकिक देवों की पूजा का उल्लेख मिलता है। पर यह उनका आगार या अपवाद था। सांसारिक कार्य था, धर्म या आध्यात्मिक कार्य नहीं और जहां तक जिन मंदिरों में जिनप्रतिमा आदि की पूजा का प्रश्न है, वहां लक्ष्य आध्यात्मिक होता है। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों की तुलना कैसे हो सकती है।

प्रश्न 6–तेरापंथी लोग मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते। फिर भी वे अपने घरों में तीर्थंकरों व आचार्यों के चित्र आदि को लगाते हैं और कुछ तीर्थ-स्थानों की यात्रा भी करते हैं। क्या ऐसा करके वे मूर्तिपूजा की ओर अभिमुख नहीं हो रहे हैं?

उत्तर–आचार्य भिक्षु ने लम्बी तपस्या और सघन अन्वेषण के बाद आगमानुमोदित जो परम्परा स्थापित की, हम उसे किसी भी मूल्य पर धूमिल नहीं होने देंगे, यह हमारा दृढ संकल्प है। क्योंकि हमें यह गुणपूजा, भावपूजा या निराकार पूजा का रास्ता बड़ी मुश्किल से मिला है। अब जहां तक यह आपका तीर्थंकरों या आचार्यों के चित्र या फोटोज का सवाल है। तेरापंथी लोग अपने घरों, दुकानों, कार्यालयों आदि में चित्र या फोटो रखते हैं। सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्व भी है। पर इनकी पूजा न कोई करता है और न वह सम्मत है।

तेरापंथ में पूजा के लिए तीर्थयात्रा का कहीं भी प्रचलन नहीं है। उसके मुख्य ऐतिहासिक स्थान ही तीर्थ स्थल के रूप में मान्य है। आचार्य भिक्षु से जुड़े हुए पांच महत्त्वपूर्ण स्थान हैं–कंटालिया, राजसमन्द, बगड़ी, केलवा और सिरियारी। इन स्थानों का ऐतिहासिक महत्त्व है। हजारों लोग प्रतिवर्ष इन्हें देखने के लिए जाते हैं, विशेष रूप से सिरियारी जाते हैं। वहां वे ध्यान, जप आदि धार्मिक अनुष्ठान करते हैं। सामान्यतः वहां आराधना की विधि निर्धारित है, वह इस प्रकार है–

* समाधि स्थल के प्रवेशद्वार के सामने आते ही विघ्नहरण मंगल करण वाला पद्य का तीन बार संगान करें।

* समाधिस्थल के पास पहुंचकर श्रद्धापूर्वक आचार्य भिक्षु की स्मृति और स्तुति करे।

* पूर्ण तन्मयता के साथ ऊं भिक्षु-जय भिक्षु इस मंत्र का जप अथवा ध्यान करें।

* आचार्य भिक्षु का मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं था। उनके समाधिस्थल को मूर्तिपूजा का रूप न मिले, इसके प्रति जागरूक रहें।

❊ समाधिस्थल पर प्रसाद बांटना, फूल-नारियल आदि चढ़ाना सम्मत नहीं है।

चित्र या फोटो रखने तथा ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा करने में मूर्तिपूजा का कोई प्रसंग ही नहीं है। अत: इससे मूर्तिपूजा-अभिमुखता की बात अपने आप निराधार हो जाती है।

प्रश्न 7– आचार्यजी! सिद्धांत या परंपरा का जहां तक सवाल है, आपकी बात ठीक लगती है। पर गृहस्थों के घरेलू, सामाजिक एवं व्यावसायिक संबंध होते हैं। संबंधों की मधुरता के लिए एक-दूसरे के काम में सहयोगी बनना आवश्यक हो जाता है। इस संदर्भ में आपका क्या चिन्तन है?

उत्तर–संबंध घरेलू हो, सामाजिक हो या व्यावसायिक, वे सब अपने-अपने स्थान पर हैं। संबंधों के नाम पर धार्मिक आस्थाओं से डिगने का औचित्य कैसे हो सकता है? सामाजिक कामों में पारस्परिक सहयोग करना एक बात है। धार्मिक मामलों में अपनी मान्यता के प्रति जागरूक न रहे तो फिर मान्यता भेद का अर्थ ही क्या है? तेरापंथी श्रावक अपने क्षेत्र में तेरापंथ-भवन का निर्माण करवाते हैं, उसमें दूसरों का सहयोग नहीं लेते। पर मंदिर के प्रसंग में उदार बन जाते हैं। इससे भावीपीढ़ी के संस्कारों पर दूसरा प्रभाव हो सकता है। इस संदर्भ में मद्रास का एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूं–मद्रास में दो व्यक्तियों का साझा व्यापार। एक भाई कट्टर मूर्तिपूजक और दूसरा भाई कट्टर तेरापंथी। अपनी-अपनी धार्मिक आस्थाएं। परस्पर पूरा सौहार्द। एक दिन मूर्तिपूजक भाई ने तेरापंथी भाई से कहा–भाई साहब! मैं मंदिर बनवाना चाहता हूं।

तेरापंथी–जैसी आपकी इच्छा।

मूर्तिपूजक–इसमें आपका क्या सहयोग रहेगा?

तेरापंथी–मैं अपना काम करता रहूंगा।

मूर्तिपूजक–मैं आर्थिक सहयोग की बात कर रहा हूं।

तेरापंथी–आर्थिक सहयोग एक पैसे का भी नहीं दूंगा।

मूर्तिपूजक–आप क्या कह रहे हैं? मैं आपका मित्र हूं। साथी हूं। व्यापार में साझीदार हूं। क्या आप मेरा सहयोग नहीं करेंगें?

तेरापंथी–मित्र, साथी और साझीदार की हैसियत से आपके सामाजिक कार्यों में मेरा पूरा सहयोग रहेगा। आप कोई स्कूल, हॉस्पिटल या अतिथि-भवन बनवाएं, मैं आधा पैसा लगाने के लिए तैयार हूं। पर मंदिर का सम्बन्ध धार्मिक आस्था के साथ है। आपकी आस्था मंदिर में है। आप मंदिर बनवा सकते हैं। मेरी आस्था मंदिर में नहीं है। मंदिर से मेरा कोई द्वेष नहीं है। पर अपनी आस्था में मेरी कट्टरता है। आप अपनी आस्था में कट्टर रहें और मुझे अपनी आस्था में कट्टर रहने दें। मूर्तिपूजक भाई अपने साथी की स्पष्टवादिता से बहुत प्रभावित हुआ और उनके व्यापार और व्यवहार में भी कोई अंतर नहीं आया। यह एक उदाहरण है, ऐसे कई उदाहरण हो सकते हैं।

पाठ-4 जैनधर्म और रात्रिभोजन

✲ जैन आगमों में साधुओं की तरह श्रावकों के लिए कई भूमिकाओं का वर्णन प्राप्त होता है। दशाश्रुतस्कंध सूत्र में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन हैं। वहां पांचवी प्रतिमा में अन्य नियमों के साथ रात्रिभोजन का परित्याग भी विहित है। रात्रिभोजन नहीं करना मध्य युग में प्रायः प्रत्येक जैन के लिए अनिवार्य हो गया था। यह जैनत्व की पहचान बन गई थी। रात्रिभोजन का परिहार भगवान महावीर की एक विशेष देन है–

✲ रात्रिभोजन का निषेध क्यों?

रात्रिभोजन न करना धर्म से संबंधित तो है ही, क्योंकि यह धर्म के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इसके साथ इस निषेध का एक वैज्ञानिक कारण भी है। हम जो भोजन करते हैं, उसका पाचन होता है तैजस शरीर के द्वारा। हमारे पाचन की शक्ति है–तैजस। उसको अपना काम करने के लिए सूर्य का आतप आवश्यक होता है। जब उसे सूर्य का प्रकाश नहीं मिलता तब वह निष्क्रिय हो जाता है, पाचन कमजोर हो जाता है। इसलिए रात को खाने वाला अपच की बीमारी से बच नहीं सकता। यह कारण वैज्ञानिक है।

दूसरा कारण है कि जब सूर्य का आतप होता है, तब कीटाणु बहुत निष्क्रिय होते हैं। जैसे ही सूर्य चला जाता है, सबमें प्राण शक्ति का संचार होता है और वे सब सक्रिय हो जाते हैं। वे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। बीमारी जितनी रात में सताती है, उतनी दिन में नहीं सताती। वायु का प्रकोप भी रात में अधिक होता है। ये सारी बीमारियां रात में इसलिए सताती है क्योंकि रात में ताप नहीं होता। जब ताप होता है तब बीमारियां उग्र नहीं होतीं है।

आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र में लिखा–'अस्तंगते दिवानाथै'' सूर्य के अस्त होने पर पाचन-तंत्र निष्क्रिय हो जाता है। ऊर्जा का सबसे बड़ा स्रोत है–सूर्य। उसकी विद्यमानता में प्राणतंत्र, ऊर्जातंत्र, पाचनतंत्र सभी सक्रिय रहते हैं। सूर्य के अस्त होते ही ये सारे तंत्र निष्क्रिय होने लग जाते हैं। इसलिए रात का समय भोजन के लिए उपयुक्त नहीं है। खाए हुए भोजन का रस नहीं बनता। वह अस्वास्थ्यप्रद होता है।

रात्रिभोजन नहीं करने से जीव-जन्तुओं के हिंसा की सम्भावना भी टलती है और सहज ही संयम का विकास होता है। गणित की भाषा में कहे तो रात्रिभोजन न करने पर सहज ही छह महीनों की तपस्या हो जाती है। अन्य धर्मों म भी अहिंसा की दृष्टि से रात्रिभोजन का वर्जन किया गया है। कर्मपुराण आदि वैदिक ग्रंथों में रात्रिभोजन का निषेध है। महात्मा गांधी ने भी इसे अच्छा नहीं समझा। उन्होंने ५० वर्षों तक रात्रिभोजन का बड़ी दृढ़ता के साथ वर्जन किया। रात्रिभोजन के वर्जन से बल, बुद्धि और आयु की वृद्धि होती है। ऐसा शरीर-शास्त्र के ज्ञाता भी कहते हैं। वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में शहरों की दौड़धूप और अव्यवस्थित जीवनशैली के कारण रात्रिभोजन का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। अगर जैन-संस्कृति की सुरक्षा का प्रश्न सामने रहे तो सहज ही रात्रिभोजन का संयम किया जा सकता है।

*** कथाबोध**

चम्पा का श्रेष्ठीपुत्र श्रेयांसकुमार बचपन से ही धर्मप्रिय था। उस श्रेष्ठी का पूरा परिवार धार्मिक था। परिवार में कोई रात्रिभोजन भी नहीं करता था। प्रात:काल सभी जप, संत-दर्शन, ध्यान आदि किया करते थे। श्रेयांसकुमार भी बचपन से अनेक उपासनाओं का अभ्यस्त बन गया था। वह भी प्रात: उठकर माला फेरता व रात्रिभोजन का सर्वथा परित्याग रखता था। बड़ा होकर भी वह अपने नियमों पर दृढ़ रहा।

श्रेयांस को व्यापार के लिए कभी-कभी बाहर भी जाना पड़ता था। वह प्रात: उसी प्रकार की व्यवस्था करके जाता था या फिर शाम का खाना ही छोड़ देता था। पर रात्रि में नहीं खाता था।

एक बार श्रेयांस अपने कुछ साथियों के साथ व्यापार के लिए किसी दूर प्रदेश में गया। उसने परिश्रम के साथ काफी धन कमाया। वह कई वर्षों की यात्रा के बाद अपने साथियों के साथ वापस चम्पा की ओर आ रहा था। मार्ग में उनको अंग देश का एक सथवाड़ा मिला, उसमें तीन सौ आदमी थे। सथवाड़े के अधिपति मणिवर्धन ने श्रेयांस व उसके साथियों को भी आग्रह करके अपने साथ ले लिया। मणिवर्धन, श्रेयांस के पिता के साथ पढ़े हुए थे। वे भी चम्पा ही आ रहे थे।

श्रेयांसकुमार अपने नियम के अनुसार सूर्यास्त से पूर्व भोजन कर लेता था। सायंकालीन भोजन करने वालों में प्राय: श्रेयांस ही प्रथम रहता था। कोई कुछ भी कहे, वह अपने नियम पर अटल था, अपने संकल्प के प्रति आस्थावान था।

चलते-चलते वर्मा का बीहड़ जंगल आ गया। सथवाड़े के रथ और सामान की गाड़ियों को चक्कर वाले लम्बे रास्ते से रवाना कर दिया। शेषयात्री पैदल ही पथरीले, कंटीले, घाटी के मार्ग से जंगल पार करने लगे। वे कुछ ही चले होंगें कि रास्ता भटक गए और पूरे दिन इधर-उधर भटकते रहे। उन्हें सही रास्ता नहीं मिला। उनके पास न कुछ खाने को था और न पीने को कुछ था।

भूखे-प्यासे सभी लोग शाम तक जंगलों में भटकते रहे परन्तु उन्हें कोई गाँव नजर नहीं आया। सब थक कर चूर-चूर हो चुके थे। आखिर उन्होंने नदी के किनारे रात बिताने का निर्णय किया। सबने नदी का पानी पीया, कुछ सुस्ताए। चारों ओर घोर अंधेरा हो गया। उनके पास प्रकाश का कोई साधन

नहीं था। पानी पीते ही सबको बुरी तरह भूख सताने लगी। श्रेयांसकुमार को तो रात्रिभोजन का त्याग था। उसने एक ओर अपना आसन लगाया और माला फेरने लगा। बाकी सब लोग इधर-उधर कन्द-फल आदि की खोज में निकल पड़े।

अंधेरी रात थी, कुछ दिख भी नहीं रहा था, फिर भी लोग इधर-उधर जाने का प्रयास कर रहे थे। नदी के तट पर कुछ अनजान वृक्षों के फल लगे हुए थे। कुछ लोग उन्हें ही तोड़कर ले आए। फल दिखने में सुन्दर तथा रसदार थे। सार्थवाह ने सभी साथियों को आवाज दी, सब आ गए, किन्तु श्रेयांसकुमार नहीं आया। सार्थवाह ने उसे भी बुलाया और बहुत प्यार से फल खाकर भूख मिटाने के लिए कहा। इस पर उसने रात्रि भोजन के त्याग की बात कही। सभी ने उसको 'आपत्तिकाले, मर्यादानास्ति' वाली उक्ति बोलकर अपना हठ छोड़ देने के लिए कहा। श्रेयांस ने स्पष्ट कहा–'मैंने नियमों में ऐसी कोई छूट नहीं रखी है, अतः मैं कुछ भी नहीं खाऊंगा।' इस पर सार्थपति ने उससे कहा–'बेटा! दण्ड ले लेना, फल खाने ही होंगें। तुम्हारे खाए बिना मैं भी नहीं खाऊँगा।'

इस पर श्रेयांस ने अत्यन्त विनम्रता से कहा–'चाचाजी! मैं रात्रि में कुछ भी नहीं खा सकता और मैं तो ऐसे अनजान जंगल में किसी को रात्रि में खाने की सलाह भी कभी नहीं दूंगा। चाचाजी! मेरा तो आप सभी से यही कहना है कि आप रात्रि में कुछ भी न खाएं। एक वक्त नहीं खाने से कुछ बिगड़ने वाला नहीं है।' सार्थवाह का मन तो नहीं था, किंतु श्रेयांस की दृढ़ता देखकर उसने भी भूखे रहने का निर्णय लिया।

दूसरी ओर लोगों ने कहा–'हम तो फल खाएंगे।' जब खाने को मिलता है तो भूखे क्यों रहे?' यह सुनकर श्रेयांस ने कहा–'मैं तो चाहूंगा कि आप भी न खाएं। मैं तो सिर्फ कह ही सकता हूँ, मानना तो आप के हाथ में हैं।' लोग तो भूखे थे और फल सामने पड़े थे। अतः उन्होंने आव देखा न ताव, उठा-उठाकर खाने लगे। अनेक लोगों ने अपने व्रत तोड़कर भी जंगली फल खा लिए। प्रायः सभी ने भरपेट खाए। सब थके हुए तो थे ही। खा-पीकर नदी के किनारे सो गए। वे फल जहरीले थे, रात्रि में किसी को ज्ञात ही नहीं हो सका। जब जहर ने असर दिखाया तो सोए के सोए ही रह गए।

दूसरे दिन प्रातः सथवाड़े के प्रबंधक, कर्मचारी और गाड़ी-वाहन उन्हें ढूँढते हुए आए। वे अपने साथ खाने-पीने का सामान भी लाए थे। मणिवर्धन ने उनसे कहा–'सब को जगाओ, सूर्योदय होने वाला है।' आदेश मिलते ही सोए हुए लोगों को जगाने का प्रयत्न किया गया।

अरे! यह क्या? कोई उठ नहीं रहा। सब सोए ही रह गए। मणिवर्धन को भारी धक्का लगा। श्रेयांस ने पास में पड़े फलों को देखकर कहा–'देखो! चाचाजी, ये फल अजनबी और जहरीले लगते हैं। देखो, तभी इन्हें कोई तोड़ नहीं रहे हैं। शायद इनकी मृत्यु का कारण ये फल है।'

पास के देहातों में सूचना भेजी गई। सुनते ही ग्रामीण लोग आए। उन्होंने फलों को देखकर कहा–'इन फलों को खाने वाला कभी जीवित नहीं रहता। हम लोग तो इन फलों से सजग रहते हैं। बचपन में ही इनके बारे में बता दिया जाता है, तभी यहाँ के लोग इन फलों से बचकर रहते हैं। आप भी अगर इन फलों को दिन में देखते तो जहर का अनुमान लगा लेते और बच जाते। रात्रि में इन फलों को खाने के कारण ही यह हादसा हुआ है।

सार्थवाह मणिवर्धन ने एक लम्बी सांस ली और कहा–'भाई! अब तक तो सुना था कि रात्रि में खाना, रोग को बढ़ाना है, परन्तु आज तो प्रत्यक्ष देख लिया है–रात्रि में खाना मौत को बुलाना है। आखिर सबने मिलकर भारी मन से उनका अन्तिम संस्कार किया। सभी श्रेयांसकुमार के नियम-निष्ठा के प्रति नतमस्तक हो गए। सार्थवाह ने उसको अपना जीवन रक्षक माना तथा अन्य लोगों ने उसके समक्ष रात्रिभोजन का त्याग स्वीकार किया। मणिवर्धन ने चम्पानगरी में आकर वहाँ के राजा को जब अपनी सम्पूर्ण आप-बीती सुनाई तो उसने भी श्रेयांस की व्रत-निष्ठा की सराहना की। नगर के निष्ठाशील धार्मिक के रूप में उसको सम्मानित किया गया।

पाठ-5 नशा : समस्या और मुक्ति

वर्गीकरण के आधार पर नशे के चार प्रकार बनते हैं–

1. तम्बाकू का नशा

2. शराब का नशा

3. भांग, गांजा, चरस आदि का नशा

4. अफीम, हेरोइन (ड्रग्स) आदि का नशा

ये चार प्रकार के नशे हैं। नशा उर्दू भाषा का शब्द है, संस्कृत तथा हिन्दी में इसके लिए उन्माद या पागलपन शब्द हैं। चेतना का विकृत हो जाना, बिगड़ जाना, भान भूल जाना नशे की प्रकृति है।

❊ तम्बाकू : भयंकर नशा

बीड़ी, सिगरेट, खेनी, गुटका, पानपराग आदि जर्दा युक्त जितने पदार्थ हैं, वे तम्बाकू के ही अलग-अलग रूप है। तम्बाकू को खाना, पीना एवं होंठों में दबाकर चूसना-सूंघना इन सभी तरीकों में इस्तेमाल किया जाता है। यह बहुत घातक नशा है। विश्व के डॉक्टरों और वैज्ञानिकों ने जब जनता के सामने इन नशों से होने वाले नुकसानप्रद तथ्यों को रखा, तब सब चौंक गए। इतने भयभीत हो गए कि धार्मिक दृष्टि से उन्हें समझाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। छोटे क्या बड़े-बड़े देशों की सरकारों ने भी स्वत: ही एक कानून पास कर, नशे के पैकेट चाहे जर्दे का हो या सिगरेट का उनके विज्ञापनों में यह कानूनी चेतावनी देना अनिवार्य कर दिया कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। फेफड़ों के कैंसर का यह बहुत बड़ा कारण है।

मुख, गुहा, स्वरयंत्र, अन्ननली, जबड़ा तथा श्वास आदि रोग के लिए तम्बाकू बहुत जिम्मेवार है। दरअसल तम्बाकू में अन्य विषैले पदार्थों के साथ निकोटिन नाम का विषैला पदार्थ भी है। जो बीड़ी, सिगरेट आदि जर्दा युक्त पदार्थ के माध्यम से मस्तिष्क की कोशिकाओं को प्रभावित करता है और धीरे-धीरे व्यक्ति को इसका आदी बना देता है। शरीर की दृष्टि से भी यह पदार्थ हानिप्रद है।

※ मद्यपान वर्जन (शराब का निषेध)

भगवान महावीर ने शराब को मांसाहार की तरह निषिद्ध माना। जैन आचार्यों ने सात कुव्यसन बतलाए, उनमें एक शराब का नशा भी है। आदमी शराब पीता है और उसमें पागलपन आता है, उन्माद पैदा होता है और तो और उसमें ऐसी अनेक उत्तेजनाएं पैदा होती है कि वह सही-गलत की सुध-बुध भूल, अनेक अपराधों की ओर भी उन्मुख हो जाता है। चोरी-डकैती, जुआ, वेश्यागमन आदि-आदि अनेक दुर्व्यसन तथा मांसाहार जैसे से भी वह अछूता नहीं रहता। उसे अपने कुल की, परिवार की तथा अपने गुरुजनों की भी लाज-लज्जा व मान-प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं रहता। समाज में उसकी इज्जत नहीं होती। एक बार शराब पीने पर जरूर उसे मस्ती या सुख का अनुभव होता होगा, परन्तु लत पड़ने के बाद में तो उसे ऐसा पछताना पड़ता है कि उसके दुष्परिणामों को वह सह नहीं पाता। बार-बार शराब पीने की चाह में उसका तनाव निरन्तर बना रहता है। उसका शरीर दुर्बल, निर्बल तथा कमजोर पड़ जाता है। परिवार में तनाव की स्थितियां उत्पन्न होती है। लड़ाई-झगड़े तथा अशांति बढ़ती है। संपत्ति ह्रासोन्मुख होना शुरू हो जाती है। आवेश, कलह आदि की वृत्तियों में प्रबलता आती है। नशा किए बिना उसका जीवन कठिन हो जाता है। फिर तो चाहे-अनचाहे व्यक्ति को वह जहर बार-बार अपने गले से उतारना ही पड़ता है। और तो और वह अपने जीवन की शेष सांसें शराब के प्याले और सिगरेट आदि के धुएं में ही देखता है अर्थात् उसका जीवन नशे में बन्दी हो जाता है।

भगवान महावीर की तरह अन्य महापुरुषों ने भी शराब का निषेध किया है। भगवान बुद्ध ने कहा–मनुष्यों! तुम सिंह के सामने जाते समय भयभीत मत होना क्योंकि वह पराक्रम की परीक्षा है। तुम तलवार के नीचे सिर झुकाने से भयभीत मत होना क्योंकि वह बलिदान की कसौटी है। तुम पर्वत शिखर में से पाताल में कूद पड़ना क्योंकि वह तप की साधना है। तुम बढ़ती हुई ज्वालाओं से विचलित मत होना, यह स्वार्थ की परीक्षा है। परन्तु शराब से तुम सदा ही भयभीत रहना क्योंकि यह पाप और अनाचार की जननी है। उन्होंने आगे कहा–जिस राजा के राज्य में सुरादेवी (शराब) आदर को प्राप्त होगी, वह राज्य कालदेवी पर नष्ट हो जाएगा। वहां न औषधि उपजेगी और न अनाज। इसलिए कहा गया नशा व्यक्ति को परिवार और समाज के प्रति उदासीन बनाता है। उसके कर्त्तव्यबोध और दायित्वबोध को समाप्त करने का हेतु बनता है। अर्थात् समाज में एक ऐसी निकम्मी पीढ़ी का जन्म होता है जो किसी काम की नहीं होती, केवल नशे में धुत्त रहती है। इसलिए व्यक्ति को शराब के नशे के साथ-साथ भांग, गांजा, चरस आदि के नशे को भी त्यागना चाहिए। हेरोइन (ड्रग्स) आदि घातक नशीले पदार्थों की भी वर्जना करनी चाहिए। यहां चाहे स्वास्थ्य का प्रश्न हो या अध्यात्म का, नशे का परित्याग हमारे लिए एक श्रेष्ठ व सार्थक जीवन निर्माण का हेतु बनता है। गुरुधारणा में भी मद्यपान का विशेष रूप से त्याग कराया जाता है जो उसके सम्यक्त्व सुरक्षा का हेतु बनता है।

हमारी चेतना सतत जागरूक रहे, सतत सावधान रहे और अप्रमत्त रहें। इसलिए मदिरा और सभी मादक वस्तुओं का निषेध किया गया। हमें अपने ज्ञान-तंतुओं को विकृत बनाने वाली और वृत्तियों की उत्तेजित करने वाली किसी भी वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिए।

❊ नशा : कारण और निवारण

जब हम नशे के कारण को खोजते हैं तो पता लगता है कि

1. व्यक्ति में निषेध का आकर्षण होता है। इसलिए वह उत्सुकता, जिज्ञासा एवं प्रयोग करने की लालसा में कच्ची उम्र में भी नशे की शुरूआत कर देता है।
2. व्यक्ति का जीवन व्यवहार और संस्कार वातावरण से बहुत प्रभावित रहता है। कच्ची उम्र में वह वातावरण से और जल्दी प्रभावित हो जाता है। इसलिए आस-पड़ोस आदि दोस्तों की संगति, स्थान-स्थान पर होने वाली नशे की सुलभता व विज्ञापनों आदि का माहौल, व्यक्ति को नशे के लिए प्रेरित करता है।
3. तीसरा कारण ढूंढा गया, व्यक्ति में तनाव बहुत है। भय, चिन्ता आदि मानसिक तनावों से क्षणभर मुक्ति पाने के लिए वह नशे की शरण में चला जाता है।

इसलिए नशे से दूर रहने के लिए सत्संगति की बहुत आवश्यकता है, तनाव को दूर करने के लिए ध्यान का अभ्यास बहुत जरूरी है। नशा और ध्यान दोनों में समानता है। दोनों ही व्यक्ति को बाहरी तनाव से, चिंताओं से शून्य कर एक अलग ही सुख या मस्ती का अनुभव कराता है। परन्तु नशा बुरा इसलिए है क्योंकि उसका परिणाम भी बुरा है। एक बार क्षणिक सुख का आभास कराने के बाद वह जीवन को अभाव, अंधकार और निराशा से 'दुख' की चरम सीमा तक भी पहुंचा देता है। व्यक्ति को अनर्थ करने के लिए बाध्य कर देता है। वही ध्यान से व्यक्ति अपने जीवन में आनंद की लगातार वृद्धि करता है तथा अपने आस-पास एक सकारात्मक आभावलय भी निर्मित करता है। इसलिए नशे का विकल्प है–ध्यान। इससे आदमी नशे से प्राप्त सुख से बड़ा सुख उपलब्ध करता है व जीवन की दिशा को सम्यक् बनाता है।

❊ उपसंहार

नशा की समस्या पहले भी थी, किन्तु अब और अधिक जटिल बन गई है। युवा वर्ग में नशा करने की आदत बड़ी तेजी से बढ़ रही है। वर्तमान के सामाजिक ढांचे में, भौतिकता एवं पाश्चात्य संस्कृति की अन्धी दौड़ में आज यत्र-तत्र महिला वर्ग ने भी अपने आपको नशे की पंक्ति में स्थापित कर चिंता बढ़ाई है। जैन वर्ग के लिए आज विशेष चिंतन का विषय है कि वह कहीं इस युग के प्रवाह में बहकर तुच्छ आनन्द के लिए नशे की शरण में न चले जाएं। भगवान महावीर की आराधना करने वाला, उनके वचनों पर श्रद्धा रखने वाला, आस्था रखने वाला कहीं अपने जीवन में शराब को स्थान न दे दे। इसे तो उसे विशेष जागरूकता के साथ वर्जना ही चाहिए और अपनी जैनत्व की पहचान को सदा कायम बनाए रखना चाहिए।

पाठ-6 मांसाहार का निषेध क्यों?

आहार मनुष्य के जीवन की न्यूनतम अपेक्षा है। मनुष्य अनाज खाकर भी जीता है और मांस खाकर भी जीता है। अनाज और मांस दोनों की तुलना में मांस का भोजन मनुष्य को अधिक क्रूर बनाता है। मांस को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को जितना क्रूर बनना पड़ता है, उतना अनाज को प्राप्त करने के लिए नहीं। जो लोग मांसाहारी हैं, वे भी बूचड़खाने में नहीं जाते। जहां जीवों का वध होता है, पशु-पक्षी मारे जाते हैं, वहां नहीं जाते। यदि वे वहां चले जाएं तो संभव है, उनके लिए मांस खाना मुश्किल हो जाए। हर आदमी इतना क्रूर नहीं होता कि वह हजारों-हजारों मूक प्राणियों की मृत्युकालीन चीखों और पीड़ाओं को झेल सके। प्राणीमात्र को अपने समान समझने वाला, उनके सुख-दुख को अपने सुख-दुख के समान तोलने वाला, मांस को खा भी नहीं सकता? वह मांस कैसे खाए?

जार्ज बर्नार्ड शॉ कहते थे कि मैं मांस नहीं खाता, उसका वर्जन करता हूं क्योंकि मेरा पेट कब्रिस्तान नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि एक दृष्टि से मांस को खाने का अर्थ केवल अपना पेट भरना ही नहीं, अपितु मारे गए जानवरों की स्वयं जीवित कब्र बनना भी है।

❊ करुणा और शाकाहार

भगवान महावीर ने मांसाहार का प्रबल विरोध किया। उस विरोध के पीछे कोई वाद नहीं, अपितु करुणा का अजस्र प्रवाह था। उनके अन्त:करण में प्राणी-मात्र के प्रति करुणा प्रवाहित हो रही थी। पशु-पक्षी और वनस्पति आदि सूक्ष्म जीवों के साथ उनका उतना ही प्रेम था, जितना कि मनुष्य के साथ। उनके प्रेम में किसी भी प्राणी के वध का समर्थन करने का कोई अवकाश नहीं था। उन्हें प्रिय थी अहिंसा और केवल अहिंसा, किन्तु मानव जगत उनकी भावना को कैसे स्वीकार कर लेता? आखिर यह जीवन का प्रश्न था। जीना है तो खाना है। खाए बिना जीवन चल नहीं सकता। 'अन्नवे प्राणा:'—अन्न ही प्राण है, यह धारणा समाजमान्य हो चुकी थी। भगवान ने भोजन की समस्या पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया। एक दृष्टिकोण अनिवार्यता का था और दूसरा संकल्प का। भगवान ने असंभव तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया।

वनस्पति जीवन की न्यूनतम अनिवार्यता है। इसके पीछे हिंसा के अल्पीकरण, स्वास्थ्य, सात्त्विक संस्कार एवं विचार का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है।

मांसाहारी लोग वनस्पति खाते हैं पर शाकाहारी लोग माँस नहीं खाते। मांसाहार वनस्पति की भांति जीवन की न्यूनतम अनिवार्यता नहीं है। उनके पीछे संकल्प की प्रेरणा है। भगवान की अहिंसा का पहला सूत्र है–अनिवार्य हिंसा को नहीं छोड़ सको तो संकल्पी हिंसा को अवश्य छोड़ो। इसी सूत्र के आधार पर मांसाहार के प्रतिषेध का स्वर अर्थवान हो गया।

आज विश्वभर में जो शाकाहार का आन्दोलन चल रहा है, उसका मूल जैन परम्परा में ढूंढा जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–सभी जातियों में मांसाहार प्रचलित था। वैदिक धर्म में मांसाहार निषिद्ध नहीं था। बौद्ध धर्म के अनुयायी श्रमण परम्परा में होकर भी मांसाहार करते थे। मांस न खाने का आन्दोलन केवल जैन परम्परा ने चला रखा था, उसका नेतृत्व महावीर कर रहे थे।

महावीर ने निर्ग्रन्थों के लिए मांसाहार का निषेध किया। व्रती श्रावक भी मांस नहीं खाते थे। भगवान ने नरक में जाने के चार कारण बताए। उनमें एक कारण है–मांसाहार। मांसाहार के प्रति महावीर की भावना का यह मूर्त प्रतिबिम्ब है।

महावीर का मांसाहार विरोधी आन्दोलन धीरे-धीरे बल पकड़ता गया। उससे अनेक धर्म सम्प्रदाय और अनेक जातियां प्रभावित हुई और उन्होंने मांसाहार छोड़ दिया।

मांसाहार के निषेध का सबसे प्राचीनतम प्रमाण जैन साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य साहित्य में है, ऐसा अभी तक ज्ञात नहीं है।

❊ मनुष्य प्रकृतिः शाकाहार या मांसाहार

मनुष्य की क्रूरता बढ़ने का बहुत बड़ा कारण है–मांसाहार। मांसाहार ने निश्चय ही मनुष्य को कुछ न कुछ अंशों में पशु बनाया है और उसमें पाशविक वृत्तियां पैदा की है। अन्यथा मनुष्य कुछ ऐसे आचरण नहीं करता जो पशु के लिए ही उचित हो सकते हैं, मनुष्य के लिए नहीं।

मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी है, मांसाहार उसकी प्रकृति ही नहीं है। शरीर संरचना और शरीर क्रिया के आधार पर जानवरों को दो श्रेणी में बांटा गया है। गाय, घोड़ा, हाथी ये शाकाहारी जानवर हैं। कुत्ता, बिल्ली, शेर ये मांसाहारी प्राणी हैं। दोनों की शरीर संरचना और शरीर क्रिया में जो अंतर है, उसके कुछ पहलू ये हैं–

	शरीर के अंग	**मांसाहारी**	**शाकाहारी**
1.	दांत	नुकीले	चपटी दाढ़ वाले
2.	पंजे	तेज नाखून वाले	नाखून तेज नहीं
3.	जबड़े की गति	केवल ऊपर नीचे हिलते हैं	ऊपर-नीचे, दाएं- बाएं, सब ओर हिलते हैं
4.	चबाने की क्रिया	बगैर चबाए भोजन निगलते हैं	भोजन चबाने के बाद निगलते हैं।

5.	जीभ	खुरदरी (Rough)	चिकनी (Smooth)
6.	पानी पीने की क्रिया	जीभ बाहर निकालकर	जीभ बिना बाहर निकाले, होठों से
7.	आंते	लंबाई कम, शरीर की लंबाई के बराबर, धड़ की लम्बाई से छह गुनी, आंते छोटी होने के कारण मांस के सड़ने व विषाक्त होने से पहले ही उसे बाहर फेंक देती है।	लम्बाई अधिक, शरीर की लंबाई से 4 गुनी, धड़ की लम्बाई से 12 गुनी, इसके कारण मांस को जल्दी बाहर नहीं फेंक पाती।
8.	लीवर, गुर्दे	अनुपात में बड़े, ताकि मांस का व्यर्थ मादा आसानी से बाहर निकाल सके	अनुपात में छोटे, इसलिए मांस का व्यर्थ मादा आसानी से बाहर नहीं निकाल सकते।
9.	पाचक अंग में हाइड्रोक्लोराइड एसिड	मनुष्य की अपेक्षा दस गुणा अधिक जिससे मांस आसानी से पच सकता है।	कम, मांस को आसानी से नहीं पचा सकता।
10.	लार (सलाइवा)	अम्लीय (Acidic)	क्षारीय (Alkaline) लार में टायलिन
11.	ब्लड-पी. एच.	कम, झुकाव अम्लीय की ओर	अधिक झुकाव क्षारीय की ओर
12.	सूंघने की शक्ति	अत्यन्त तीव्र	उतनी तीव्र नहीं
13.	आंखें	रात में चमकती है, रात में भी देख सकती है	रात में देख नहीं सकती
14.	शब्द	कर्कश, भयंकर	कर्कश नहीं
15.	बच्चे	जन्म के बाद एक सप्ताह तक दृष्टि शून्य	जन्म से ही दृष्टि वाले

उक्त वर्गीकरण के आधार पर मनुष्य की तुलना 'शाकाहारी' जानवरों से की जा सकती है। इसलिए प्रकृति से वह मांसाहारी नहीं है। मांसाहार उसने अभ्यास से सीखा है। आज अपेक्षा है कि मनुष्य में करुणा का विकास हो, क्रूरता का नहीं। मांसाहार का परित्याग इस अपेक्षा की पूर्ति करता है।

❊ क्या अण्डा शाकाहार है?

1. बहुधा यह प्रश्न उभरता है कि अण्डा क्या है? शाकाहार है या मांसाहार?
2. सजीव है या निर्जीव?

आहार के दो रूप हैं–**शाकाहार** (शाक, फल, अन्न आदि वनस्पति जन्य आहार) और **प्राणिज आहार**। प्राणिज आहार के दो प्रकार हैं–**प्राणिज भक्ष्य आहार** (दूध, दही आदि) और **प्राणिज अभक्ष्य आहार** (अण्डा, मांस आदि)

यह स्पष्ट है कि अण्डा शाकाहार नहीं है। वह प्राणी के शरीर में से निकला है, अत: वह शाकाहार कैसे होगा? वह प्राणिज है, गर्भ का स्राव है, मांस का पूर्व रूप है। इसलिए खाद्य-अखाद्य की दृष्टि से वह सर्वथा अखाद्य है, अपवित्र है और अभक्ष्य है।

अण्डे दो प्रकार के होते हैं–निषेचित और अनिषेचित। जो अण्डा मुर्गे और मुर्गी के योग से पैदा होता है वह निषेचित है और जो अण्डा बिना मुर्गे के योग से पैदा होता है वह अनिषेचित है। कई अनिषेचित अण्डे को बिना मुर्गे के योग से पैदा होने के कारण निर्जीव मानते हैं।

अनेक वैज्ञानिकों का मत है–अण्डा कोई भी हो, निषेचित अथवा अनिषेचित, वह सजीव ही है। अण्डा निर्जीव होता ही नहीं है। वैज्ञानिक श्री फिलिपज. स्केम्बर ने अपनी पुस्तक में साफ-साफ कहा है कि अनिषेचित (अनफर्टिलाइज) अण्डे भी जीव-युक्त होते हैं। वैज्ञानिक स्केम्बल के शब्द है–'अण्डा बहुत नाजुक होता है। वह प्रतिकूल वातावरण के प्रति बहुत संवेदनशील होता है। वस्तुत: अण्डे की उत्पत्ति बच्चे के लिए होती है, मनुष्य की खुराक के लिए नहीं। अण्डे में हवा के आने-जाने की नैसर्गिक व्यवस्था है। जिससे अण्डों का भ्रूण जीवित रहकर विकास करता है। यह बात अनिषेचित अण्डों पर भी लागू होती है।

मिशीगन यूनिवर्सिटी (अमेरिका) के वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि संसार में कोई अण्डा निर्जीव नहीं है, फिर चाहे वह निषेचित हो अथवा अनिषेचित। निष्कर्ष की भाषा में अण्डा मांस का पूर्व रूप है इसलिए अभक्ष्य है। शाकाहारी के लिए सर्वथा वर्जनीय है। अहिंसा, स्वास्थ्य और अभक्ष्य की दृष्टि से अवांछनीय भी है।

आजकल अण्डे को लोकप्रिय बनाने के लिए ऐसा प्रचार किया जा रहा है कि बहुत अच्छे प्रोटीन के लिए अण्डा खाएं। यह एक भ्रम है वस्तुत: जितना प्रोटीन बाजरे में है, सोयाबीन, मूंगफली व दालों में है, उतना प्रोटीन अण्डे में भी नहीं है। अण्डा प्रोटीन युक्त है तो साथ-साथ हानिकारक भी है।

100 ग्राम अण्डा लेने का अर्थ है, जरूरत से ढाई गुणा अधिक कोलेस्टेरोल लेना। मांस या अण्डे खाने से 'रिस्पटरों' की संख्या में वृद्धि आती है। इसके चलते कोलेस्टेरोल की संख्या और अधिक हो जाती है। इस कारण रक्त वाहनियों की भीतरी दीवारों पर कोलेस्टेरोल जमना शुरू हो जाता है। जिससे हृदय-रोग, गुर्दे के रोग एवं पथरी जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है। कई अमेरिका व इंग्लैंड के डॉक्टरों ने तो अण्डे को मनुष्य के लिए जहर कहा है।

कई लोग कुतर्क करते हुए दूध, दही आदि को मांसाहार की श्रेणी में लेते हैं। वे कहते हैं कि ये प्राणी के शरीर में से उत्पन्न हुआ है, इसलिए मांसाहार का ही अंग है। वस्तुत: जो सप्तधातु से युक्त कलेवर होता है, उसी को मांस की संज्ञा दी गई। दूध, दही आदि में सप्तधातु नहीं पाई जाती इसलिए वह मांसाहार का अंग नहीं हो सकता। वह अहिंसा, करुणा और भोजन की दृष्टि से खाद्य भी है, भक्ष्य भी है और ग्रहण करने योग्य भी है।

❊ उपसंहार

जैनधर्म ने जो शाकाहार का आंदोलन शुरू किया था, उसका प्रभाव व्यापक हुआ। आज समूचे संसार में वह एक लहर के रूप में चल रहा है। विश्व के अनेक वैज्ञानिकों व बड़े-बड़े डॉक्टरों ने निष्कर्ष की भाषा में कहा कि मांसाहार मनुष्य के लिए घातक है और असाध्य रोगों को जन्म देने वाला

है। पाश्चात्य देशों में भी आज शाकाहार का आन्दोलन तेज हो रहा है। ब्रिटेन के 10 लाख से अधिक लोग अब पूर्णत: शाकाहारी है और इस संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है।

*** कथाबोध**

राजा विमल के पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्पचूला था। योग्य वय होने पर पुष्पचूला का विवाह हो गया, लेकिन पति की मृत्यु होने के कारण वह अपने पिता के घर ही आ गई और वहीं रहने लगी।

पुष्पचूल राजकुमार होने पर भी व्यसनी था, चोरी की कला में अत्यन्त निपुण था। इसलिए उसका नाम बंकचूल पड़ गया। उसकी बहन पुष्पचूला उसके इन कार्यों को प्रोत्साहन देती थी। इस कारण उसका नाम भी बंकचूला पड़ गया।

बंकचूल के निन्द्य कार्यों से जनता परेशान हो गई थी। राजा विमल से शिकायत की गई। राजा ने दोनों भाई-बहन को देश से निकाल दिया। बंकचूल अपनी बहन बंकचूला को साथ लेकर एक भीलपल्ली में पहुँच गया। इस पल्ली का सरदार वृद्ध हो चुका था, उसने अपना सारा उत्तरदायित्व बंकचूल को सौंप दिया।

एक बार आचार्य चन्द्रयश अपने शिष्यों सहित एक सार्थ के साथ विहार कर रहे थे। साधुगण भिक्षा के लिए गए तब तक सार्थ आगे बढ़ गया। वर्षाऋतु सिर पर थी। आचार्य बड़े पेशोपेश में पड़ गए। उचित स्थान की गवेषणा करते हुए वे भीलपल्ली में जा पहुंचे और बंकचूल से स्थान की याचना की। बंकचूल ने आचार्यश्री को इस शर्त पर स्थान दिया कि वे कोई धर्मोपदेश नहीं देंगे।

चातुर्मास पूर्ण करके जब आचार्य चन्द्रयश चलने लगे तो बंकचूल को प्रेरणा देते हुए चार बातें कही–

1. कभी भी कोई अनजान फल न खाना।
2. सात-आठ कदम पीछे हटे बिना किसी पर प्रहार न करना।
3. राजा की अग्रमहिषी को माता के समान मानना।
4. भूलकर भी कौवे का माँस न खाना

बंकचूल ने इन नियमों को जीवन भर पालने का संकल्प कर लिया। एक बार बंकचूल अपने साथियों सहित किसी गांव को लूटने गया। लेकिन उसे कुछ भी हाथ न लगा, निराश लौटा। रास्ते में गर्मी के कारण उन सबके होंठ सूखने लगे, प्राण कंठ में आग लगी हुई थी। पेड़ों पर सुंदर फल दिखाई दिये। उसके सब साथियों ने वे फल खा लिये। लेकिन नियम के कारण उसने व उसके एक साथी ने फल नहीं खाये। वे विष-फल थे जिन्होंने ये फल नहीं खाये, वे जीवित बच गए, शेष सब मरण-शरण हो गये। बंकचूल ने नियम का परिणाम देख लिया। उसे उन मुनि श्री के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई।

घर पहुँच कर देखा तो उसकी पत्नी किसी पुरुष के साथ सोई हुई है। उसे क्रोध आना ही था। म्यान से तलवार निकाल ली। उसी समय दूसरा नियम याद आया, सात-आठ कदम पीछे हट कर वार करना। वह सात-आठ कदम पीछे हटा तो तलवार दरवाजे से टकराई। आवाज होते ही पुरुष उठ बैठा और बोला–भैया! तुम आ गये, बड़ा अच्छा हुआ। पूछने पर बहन ने बताया–आपके आने के

बाद राजा के गुप्तचर नट का वेश बनाकर आये थे। उन्हीं के कारण मैंने पुरुषवेश बनाया था। उन्हें दक्षिणा आदि देकर विदा करने में रात काफी हो गई। मेरी आँखों में नींद गहरा रही थी, इसलिए बिना वेश बदले ही सो गई।

बंकचूल की श्रद्धा आचार्य के प्रति और गहरी हो गई। उसने नियमपालन का महत्व समझ लिया।

एक बार बंकचूल चोरी करने राजमहल में पहुँचा। वहाँ राजा की अग्रमहिषी उस पर आसक्त हो गई। लेकिन बंकचूल ने उसे माता मानकर भोग-प्रार्थना ठुकरा दी। राजा यह सब एक छिद्र में से देख रहा था। उसने उसे अपने पुत्र के रूप में घोषित कर दिया। अब बंकचूल अपनी बहन बंकचूला को भी वहाँ ले आया और राजा के पुत्र के रूप में सुख से रहने लगा।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आचार्य चन्द्रयश उज्जयिनी पधारे तो बंकचूल ने उनसे श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर लिए। शालिग्राम निवासी श्रावक जिनदास से गाढ़ मैत्री हो गई। अब वह श्रावक धर्म का पालन करने लगा।

एक बार कामरूप देश के दूर्धर राजा ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। उसका सामना करने के लिए राजा के आदेश से बंकचूल सेना लेकर मैदान में जा पहुँचा। युद्धकला में निपुण बंकचूल ने दुर्धर राजा को पराजित कर दिया। विजय का डंका बजाता हुआ बंकचूल लौट रहा था, तभी शत्रु ने एक विष बुझा तीर छोड़ा, जो बंकचूल की पीठ में जा लगा। उसे तीव्र वेदना होने लगी।

राजा ने बंकचूल के उस घाव को ठीक कराने के लिए अनेक उपाय कराए, लेकिन सब विफल रहे। अन्त में वैद्यों ने बताया–यदि कौवे के मास में मिलाकर दवाई दी जाए तो राजकुमार बंकचूल शर्तिया ठीक हो सकते हैं।

कौवे का मांस का नाम सुनते ही बंकचूल ने स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा–मैं कौए का मांस त्याग चुका हूँ। प्राण जाएं या रहे, मैं कौवे का मांस किसी दशा में नहीं लूंगा। राजा ने उसको बहुत मनाया-समझाया, लेकिन जब वह न माना तो उसे समझाने के लिए जिनदास श्रावक को बुलाने के लिए अपने सेवकों को भेजा। सेवक जिनदास के पास गए और राजा का आदेश सुनाया।

श्रावक जिनदास रवाना हुआ, जब मार्ग में आ रहा था तब उसे दो स्त्रियां रोती हुई मिली। रोने का कारण पूछने पर उन्होंने बताया–'हम सौधर्म कल्प की देवियाँ है। हमारे पति स्वर्ग से च्युत हो चुके हैं। हम राजकुमार बंकचूल से प्रार्थना करने आयी थीं, लेकिन आप उन्हें नियम भंग करने की प्रेरणा देने जा रहे हैं। इससे उनकी अधोगति हो जायगी, क्योंकि मांसाहार तो नरकगति जाने का कारण है।

श्रावक जिनदास ने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उसने जाकर राजा से कहा– 'महाराज! बंकचूल का आयुष्य थोड़ा ही शेष है, अत: नियम भंग करने पर भी ये बच नहीं सकते।' इसलिए इन्हें नियम का पालन करने दीजिए। अन्तिम समय में धर्माराधना ही उचित है।

राजा की सहमति से जिनदास ने बंकचूल को संलेखना-संथारा कराया। बंकचूल ने पंच-परमेष्ठी का जाप करते हुए समाधिमरण प्राप्त किया।

श्रावक जिनदास जब लौट कर अपने ग्राम जा रहे थे, तब भी उसे वही दोनों देवियाँ मार्ग में मिलीं। पूछने पर देवियों ने बताया–'आपने बंकचूल के भावों में इतनी विशुद्धि कर दी कि वे बारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं। हमारे स्वामी नहीं बन सके हैं।

धर्म के प्रभाव को जानकर श्रावक जिनदास बहुत हर्षित हुए। धर्म का प्रभाव ही ऐसा होता है।

*** कथाबोध**

पुरिमताल नगर में 'महाबल' नाम का राजा था। उस नगर से थोड़ी दूर पर एक चोर पल्ली थी। गुफाओं और पर्वतों के बीच में आ जाने से वह स्थान अत्यधिक भयावह हो गया था। उस चोरपल्ली का मुखिया विजय चोर पाँच सौ(500) चोरों का स्वामी था।

वह महाअधर्मी था, लोगों को लूटना, डाका डालना और नृशंसता से गांवों को जलाना आदि उसका प्रतिदिन का कार्य था। उसके पुत्र का नाम था अभग्गसेन, जो क्रूरता में अपने पिता से भी बहुत बढ़-चढ़कर था। अभग्गसेन पुरिमताल की प्रजा को बहुत पीड़ित कर रहा था। पुरिमतालवासियों ने अपने महाराज 'महाबल' के सामने अपना सारा दुःखड़ा रोया। राजा ने भी अभग्गसेन को पकड़ने की बहुत कोशिशे की, पर उसके सारे प्रयत्न निष्फल रहे। अन्त में राजा ने एक युक्ति निकाली।

नगर में दस दिन का महोत्सव मनाने की घोषणा की और उसमें अभग्गसेन को भी अपने साथियों सहित आमन्त्रित किया। राजा ने अवसर पाकर उन सबको मद्य और माँस खिला कर बेभान बना दिया। यों बेहोशी में उन्हें पकड़ लिया और शहर में घुमाकर शूली पर चढ़ाने का दण्ड दे दिया।

उधर से भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी भिक्षार्थ जा रहे थे। उनको यों वध-स्थल की ओर ले जाते हुए देखकर मन में खिन्न हुए। भगवान महावीर के पास आकर उन्होंने पूछा–'भन्ते! इस अभग्गसेन चोर ने ऐसे क्या पाप किए थे, जिसके कारण यह शूली पर लटकाया जा रहा है।' प्रभु ने कहा–'गौतम! पूर्वभव में यह इसी नगर में निन्ह्व नामक वणिक् था। अण्डों का बहुत बड़ा व्यापारी था। अण्डों को सेंककर व तलकर खुद भी खाता और दूसरों को भी खिलाता था। एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर उस क्रूर कर्म के कारण तीसरी नरक में गया। वहाँ का आयुष्य पूर्णकर यह अभग्गसेन चोर हुआ है। यहाँ भी इसके घृणित कार्यों से राजा ने इसकी यह दशा की है। इससे अधिक क्या?

आज तीसरे प्रहर में अपनी सताईस वर्ष की आयु में मरकर यह प्रथम नरक में जायेगा। वहाँ से निकलकर अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ अभग्गसेन का जीव अन्त में वाराणसी नगरी में एक सेठ के यहाँ जन्म लेगा और वहाँ से संयम का पालन कर के मोक्ष में जाएगा।

क्या आप जानते है–

- A Group वाले मनुष्यों को जब B Group वाले मनुष्य का खून भी नहीं चढ़ा सकते, तो मांसाहार का तो प्रश्न ही कैसे।
- मांसाहार अप्राकृतिक उत्तेजना उत्पन्न करता है, सहनशीलता को कम करता है, धमनियों और शरीर के तंतुओं के लचीलेपन को नष्ट कर आयु को कम करता है।

पाठ-7 श्रावक की दिनचर्या

धर्म का एक महत्वपूर्ण सूत्र है–जागरूकता। भगवान महावीर ने साधु को चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना, बोलना आदि हर क्रिया में जागरूकता या यतना रखने का निर्देश दिया है। चलते समय जागरूकता के अभाव में जीव-वध न होने पर भी हिंसा का दोष लगता है। साधु की तरह श्रावक भी अपनी जीवनचर्या और दिनचर्या के प्रति जागरूक रहकर अव्रत के पाप से बचाव कर सके, इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर नौ नियमों की एक सुंदर तालिका प्रस्तुत की गई। जिसमें प्रशस्त और अप्रशस्त दिनचर्या की दृष्टि से एक स्पष्ट वर्गीकरण किया गया है।

अप्रशस्त दिनचर्या	**प्रशस्त दिनचर्या**
1. खाने की सीमा न करना।	खाद्य-संयम।
2. वस्त्रों की सीमा न करना।	वस्त्र-संयम।
3. पानी-बिजली का अपव्यय।	पानी बिजली के व्यय में विवेक।
4. अनावश्यक यात्रा करना।	यात्रा का परिमाण।
5. बिना प्रयोजन बोलना।	मौन का अभ्यास।
6. विकथा करना।	स्वाध्याय।
7. जैसे-तैसे अर्जन करना।	विसर्जन।
8. स्वार्थ-साधना या आत्मरति	संघसेवा।
9. फूहड़पन	स्वच्छता।

व्यक्ति की छोटी से छोटी प्रवृत्ति पर संयम का अंकुश हो, यह एक उदात्त दृष्टिकोण है। इसी के आधार पर खान-पान आदि के साथ संयम की बात जोड़ी गई। जिससे व्यक्ति पदार्थवादी, भोगवादी मनोवृत्ति से मुक्त हो स्वस्थ जीवन जीने का अभ्यासी बन सके। इसके साथ-साथ एक श्रावक अपनी दिनचर्या का प्रारंभ कैसे करे और धार्मिक दृष्टि से वह अपनी दिनचर्या में किन-किन कार्यों को

सम्मिलित करे? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस दृष्टि से एक ऐसी दिनचर्या का निर्माण किया गया, जिसे देखते ही यह ज्ञात हो जाए कि वह जैन, तेरापंथी श्रावक है।

नमस्कार महामंत्र का जप

श्रावक की दिनचर्या का सबसे प्रमुख काम है 'नमस्कार महामंत्र' का स्मरण। जैन परंपरा में इस मंत्र को बहुत शक्तिशाली माना गया है। श्रद्धा के साथ प्रतिदिन इसका जप किया जाए तो जीवन की जटिल पहेली भी सुलझ जाती है। आनंद की उपलब्धि में सबसे बड़ी बाधा है–अहंकार। 'नमस्कार महामंत्र' अहंकार-विसर्जन का मंत्र है। यह विनम्रता का बोधपाठ सिखाता है, शक्ति का संवर्धन करता है और प्रतिरोधात्मक क्षमता का विकास करता है।

'नमस्कार महामंत्र' का जप प्राणायाम के साथ हो तो और अधिक उपयोगी बन जाता है। प्राणायाम का अर्थ है–श्वास-संयम। श्वास-संयम से एकाग्रता का विकास होता है। एकाग्रता की स्थिति में किया जाने वाला मंत्र जप व्यक्ति को गहराई में ले जाता है। समुद्र की गहराई में पैठने वाले को जो अमूल्य रत्न हस्तगत हो सकते हैं, वे सतह पर तैरने वाले को कैसे मिलेंगें?

सामायिक

श्रावक की दिनचर्या का एक प्रमुख कार्य है–सामायिक। अपने आपमें रहने के लिए या समता का विकास करने के लिए सामायिक एक अमोघ प्रयोग है। बहिर्मुखी चेतना को अंतर्मुखी बनाए बिना जीवन में समता नहीं उतर सकती। सामायिक में जप, ध्यान, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा आदि जो भी अनुष्ठान किए जाते हैं, वे चेतना को भीतर ले जाते हैं। पूरे दिन में 48 मिनट भी अपने आपमें रहने का अभ्यास हो जाए तो जीवन की दिशा बदल सकती है और अगर प्रतिदिन संभव न हो सके तो कम से कम हर सप्ताह शनिवार को सात से आठ की सामायिक तो अवश्य करनी ही चाहिए।

स्वाध्याय

स्वाध्याय जीवन की बहुत बड़ी खुराक है। शरीर के लिए भोजन जितना जरूरी है, वैचारिक विकास के लिए स्वाध्याय उससे भी अधिक जरूरी है। प्रतिदिन 15 मिनट का नियमित स्वाध्याय भी बहुत बड़ी उपलब्धि का हेतु बन सकता है। स्वाध्याय से ज्ञान चेतना का विकास होता है, एकाग्रता बढ़ती है, तत्त्व को समझने की क्षमता विकसित होती है और चिंतन को नए आयाम मिलते हैं। इस दृष्टि से श्रावक की दिनचर्या में इसका समावेश आवश्यक है।

गुरु-दर्शन

श्रावक के मन में गुरुदर्शन का आकर्षण भी निरंतर रहना चाहिए। गुरु दर्शन की परंपरा कोई रूढ़ि नहीं है। यह भोग के सामने त्याग का आदर्श है। श्रावक भोग का जीवन जीता है। वह दिन में एक बार भी त्यागी जीवन का साक्षात्कार कर सके तो उसे सहज रूप में त्याग की प्रेरणा मिल सकती है। उसमें यह विश्वास जाग सकता है कि त्यागमय जीवन भी जीया जा सकता है। दर्शन करते समय साधु-साध्वियों का चेहरा देखना गौण तत्त्व है, मूल बात है त्यागमय वातावरण से संपर्क।

वंदन-विधि

जैन परंपरा में 'पंचांग प्रणति' वंदना की विधि है। इसके अनुसार दोनों हाथ, दोनों घुटने और मस्तक–इन पांच अंगों को एक साथ धरती पर लगाकर गुरु-वंदना की जाती हैं। इसका वैज्ञानिक महत्त्व है। पंचांग-प्रणिपात से एड्रीनल ग्रंथि पर नियंत्रण होता है। -

एड्रीनल का संयम करने से वृत्तियों पर नियंत्रण सधता हैं। इस दृष्टि से विधिवत् वंदना का मूल्य है। गुरु-वंदना में चरण-स्पर्श की भी एक विधि है। सिर पर पांव के जिस हिस्से का स्पर्श किया जाता है, उसे ऊर्जा का केन्द्र माना गया है। वह ऊर्जा की प्राप्ति का स्रोत है, पर उसे प्राप्त करते समय विवेक और शिष्टता का ध्यान जरूरी है। दिनभर चरण-स्पर्श की स्पर्द्धा से अव्यवस्था हो जाती है, इसलिए अवसर देखकर सावधानी से स्पर्श किया जाए। वंदना में भी रूढ़ता न हो, क्योंकि किसी भी विधि से वंदना की जाए, सर्वाधिक महत्त्व भाव वंदना का है।

परमेष्ठी वंदना : अर्हत् वंदना

श्रावक की दिनचर्या में 'परमेष्ठी वंदना' और अर्हत्-वंदना का विशेष स्थान हैं। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि–ये पांच परमेष्ठी कहलाते हैं। 'नमस्कार महामंत्र' में इन्हीं का स्मरण किया जाता हैं। नमस्कार महामंत्र का संक्षिप्त रूप 'अ.सि.आ.उ.सा. नमः' है। इसका विशद रूप 'परमेष्ठी वंदना' है। इसमें अर्हत् आदि पांचों पदों के स्वरूप को कुछ विस्तार से अभिव्यक्ति दी गई है।

'अर्हत्-वंदना' में वीतराग वाणी के चयनित सुभाषितों का संकलन हैं। इसमें आत्मकर्तृत्व पर विशेष बल दिया गया है। वज्रासन की मुद्रा, भावक्रिया और लयबद्धता के साथ किया जाने वाला संगान गायक को ही नहीं, श्रोता को भी सहज रूप में प्रभावित कर लेता है। सुभाषितों का उच्चारण करने के बाद सामूहिक संगान किया जा सके, ऐसी सरल रागिनी में एक गीत है। उक्त दोनों वंदनाएं पूज्य गुरुदेव तुलसी की स्वोपज्ञ देन हैं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण

श्रावकचर्या का एक और पहलू है–पाक्षिक प्रतिक्रमण (पन्द्रह दिन में किया जाने वाला)। प्रतिक्रमण एक प्रकार से शुद्धि की प्रक्रिया है। इसे आत्मस्नान भी कहा जा सकता है। इसके द्वारा ज्ञात-अज्ञात सब प्रकार की भूलों का शोधन हो जाता है और व्यक्ति को अपनी आत्मशक्ति का आभास होने लगता है। प्रतिक्रमण करने से पाप कर्मों का क्षय होता है और निर्जरा धर्म की आराधना के साथ उत्कृष्ट पुण्य का बंध होता है। यह जीवन को भी बहुत सरल बनाने की एक प्रशस्त विधि है।

खमतखामणा

प्रतिक्रमण से ही जुड़ा हुआ उपक्रम है–'खमतखामणा' का प्रयोग। इस प्रयोग के अनुसार प्रतिक्रमण के बाद आत्मालोचनापूर्वक सब व्यक्तियों के साथ क्षमा के आदान- प्रदान की व्यवस्था की गई है। आग्रही मानसिकता को स्वस्थ बनाने के लिए यह एक अनुभूत प्रयोग है।

रात्रिभोजन-विरमण व्रत

धार्मिक या सांस्कृतिक दृष्टिकोण को सामने रखने वाले, संयम तथा संस्कृति की अवधारणा के आधार पर रात्रिभोजन के त्याग की बात करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चिंतन करने वाले स्वास्थ्य की दृष्टि से रात्रिभोजन को अच्छा नहीं मानते। श्रावक रात्रिभोजन का परिहार करें, यह उसके लिए श्रेयस्कर है तथा जैन संस्कृति के संरक्षण के लिए एक ठोस कदम है।

पाठ-8 तीर्थंकर मल्लिनाथ

❊ तीर्थंकर गोत्र का बंध

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ प्रभु स्वयं में एक आश्चर्य थे। शेष तीर्थंकरों ने पुरुष शरीर धारण किया था किन्तु तीर्थंकर मल्लिनाथ ने स्त्री शरीर में जन्म लिया। स्त्री शरीर में इतना आत्म-विकास तथा इतना पुरुषार्थ स्वयं में एक आश्चर्य था।

भगवान मल्लिप्रभु ने अपने पिछले जन्म में इन प्रकृतियों का बंध किया था। जंबू द्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की सीतोदा महानदी के दक्षिण में स्थित सलिलावती विजय में वीतशोका नगरी थी। वहां के राजा का नाम बल था। उसकी महारानी धारिणी से सिंह के स्वप्न के साथ एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया महाबल। महाबल जब तरुण हुआ तो माता-पिता ने पांच सौ राजकन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया। अनेक वर्षों के बाद महाबल की कमलश्री नामक पत्नी से प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम बलभद्र रखा गया।

सम्राट् बल ने भव-प्रपंच से विरक्त होकर महाबल का राज्याभिषेक किया और स्वयं धर्मघोष आचार्य के पास दीक्षित होकर साधनारत बन गये। महाबल राजा बनकर राज्य का व्यवस्थित रूप से संचालन करने लगे। महाबल के राज परिवारों से संबद्ध छह अभिन्न मित्र थे–1. अचल, 2. धरण, 3. पूरण, 4. वसु, 5. वैश्रवण, 6. अभिचंद्र। एक बार वीतशोका नगरी में आचार्य धर्मघोष पधारे। महाबल राजा विरक्त होकर साधु बनने को तैयार हो गए। उनके साथ छहों मित्र भी तैयार हो गए। सातों ने धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीक्षित होने के बाद सातों मुनियों ने यह निश्चय किया कि तपस्या, अभिग्रह आदि सब साथ-साथ ही करेंगे, जिससे आगे भी हमारा साथ कायम रहे। यह निश्चय करने के बाद सभी साथ-साथ तप आदि करने लगे।

एक बार महाबल मुनि के मन में विचार आया–'अभी सातों में मेरा स्थान विशेष है, किन्तु समान तपस्या, अभिग्रह आदि से भविष्य में यह विशेषता नहीं रहेगी।'

अहं के आवेश में उन्होंने गलत निर्णय ले लिया कि विशिष्ट बनने के लिए मुझे अपने साथियों से कुछ विशेष तप करना चाहिए। इसी कल्पना में वे पारणे के दिन जब सहवर्ती मित्र संत उनके लिए

पारणा ले आते तब कहते कि तुम पारणा करो, मैंने तो आज आहार का त्याग कर दिया है। इस प्रकार छद्मपूर्वक तप एवं अहं और माया की प्रगाढ़ता से उनके स्त्री गोत्र का बंध हो गया। विशेष तपस्या एवं निर्जरा के कारण तीर्थंकर गोत्र का भी बंध हुआ।

महाबल आदि सातों मुनिवरों ने बारह भिक्षु प्रतिमा को धारण करने के साथ लघुसिंह निष्क्रीड़ित और महासिंहनिष्क्रीड़ित जैसी घोर तपस्याएं की। चौरासी लाख वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन किया। अंत में चार मास के तप में 84 लाख पूर्व का आयुष्य संपन्न कर जयंत नामक अनुत्तर विमान में बत्तीस सागरोपम आयुष्य वाले महर्द्धिक देव बने

* जन्म

देवायु भोगकर महाबल मुनि का जीव मिथिला नगरी के राजा कुम्भ के राजमहल में महारानी प्रभावती की कुक्षि में अवतरित हुआ। माता को चौदह महास्वप्न आए।

गर्भकाल पूर्ण होने के बाद सबकी आशा के विपरीत एक पुत्री का प्रसव हुआ। उस समय राजघरानों में पुत्र का ही उत्सव होता था, किन्तु देवेन्द्रों ने नवजात बालिका का उत्सव किया। तब राजा कुम्भ भी अपने सहज समुत्पन्न उल्लास को रोक नहीं सके। उन्होंने परम्परा को तोड़कर पुत्री का जन्मोत्सव पुत्र के जन्मोत्सव की भांति मनाया।

नामकरण महोत्सव भी विशाल रूप में आयोजित हुआ। राजा कुम्भ ने सबको बताया–'इसके गर्भकाल में रानी को पुष्प-शैय्या पर सोने का दोहद (इच्छा) उत्पन्न हुआ था। जिसे देवों ने पूरा किया था, अतः बालिका का नाम मल्लिकुमारी रखा जाए।'

* मित्रों को प्रतिबोध

मल्लिकुमारी के क्रमशः तारुण्य में प्रवेश करते ही उनके सौंदर्य में अद्भुत निखार आ गया। उनके रूप की महिमा दूर-दूर तक फैल गई। इधर मल्लिकुमारी ने अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव के छह मित्रों को जब निकटवर्ती जनपदों में राजा बने देखा, तो उनको प्रतिबोध देने के लिए अपने उद्यान में एक मोहनघर का निर्माण करवाया। उस भवन के मध्य भाग में ठीक अपनी जैसी रूप वाली एक स्वर्ण-पुतली स्थापित की। मूर्ति के चारों ओर छह कक्ष पुतली के सम्मुख बनवाए। कक्षों के भीतर के द्वार इस रूप में खुलते थे कि अन्दर खड़े व्यक्तियों को सिर्फ मूर्ति ही दिखाई दे और कुछ भी नजर न आए। वह पुतली भीतर से खोखली थी तथा गले के पास से खुलती थी। प्रतिदिन मल्लिकुमारी अपने भोजन का एक कौर उस पुतली के गले में डाल देती थी।

उधर अलग-अलग सूत्रों से छहों मित्र राजाओं के पास मल्लिकुमारी के रूप की ख्याति पहुंची। अनुरक्तमना छहों राजाओं ने दूत भेजकर कुम्भ राजा से मल्लिकुमारी के लिए याचना की। राजा कुम्भ के मना कर देने पर छहों राजा सेनाएं लेकर मिथिला की ओर चल पड़े।

महाराज कुम्भ छहों राजाओं को ससैन्य मिथिला के समीप आया सुनकर चिन्तित हो उठे। एक साथ छहों से युद्ध करने में वे स्वयं को असमर्थ पा रहे थे। तभी राजकुमारी मल्लि चरण वन्दन के लिए

पिता के पास उपस्थित हुई। उसने चिन्तित पिता से निवेदन किया–'बेकार युद्ध की क्यों सोच रहे हैं? मैं इस समस्या को समाहित कर लूंगी, आप निश्चिंत रहें।'

राजा से दूत आज्ञा पाकर राजकुमारी मल्लि ने छहों राजाओं के पास अलग-अलग दूत भेजे और अशोक-वाटिका में मिलने का प्रस्ताव रखा। सभी राजाओं ने मिलना स्वीकार कर लिया। सब यही जानते थे कि मुझे ही बुलाया गया है। निश्चित समय पर छहों राजाओं ने अलग-अलग द्वारों से अलग-अलग प्रकोष्ठों में प्रवेश किया। प्रवेश करने वाले छह राजाओं के नाम थे–

राज्य	**जनपद**	**नाम**	**पूर्व भव नाम**
1. साकेतपुरी	कौशल	प्रतिबुद्ध	अचल
2. चम्पा	अंग	चन्द्रछाग	धरण
3. कुणाला	कुणाला	रुक्मी	पूरण
4. वाराणसी	काशी	शंख	अभिचन्द
5. हस्तिनापुर	कुरू	अदीनशत्रु	वसु
6. कंपिलपुर	पांचाल	जितशत्रु	वैश्रवण

मित्र राजा अशोक वाटिका के मोहनघर में पहुंचे तो वहां सुसज्जित पुतली को मल्लिकुमारी समझकर निहारने लगे। रूप में उन्मत्त होकर वे उसे देख ही रहे थे कि मल्लिकुमारी ने वहां आकर पुतली के ऊपर का ढक्कन उतार दिया। ढक्कन के अलग होते ही भीतर से सड़े हुए अन्न की दुर्गन्ध चारों ओर फैल गई। दुर्गन्ध के फैलते ही राजा लोग नाक-भौं सिकोड़ते हुए इधर-उधर झांकने लगे।

अवसर देखकर राजकुमारी मल्लि ने कहा–'राजाओं! प्रतिदिन एक कवल अन्न डालने से ही पुतली में इतनी सड़ान्ध पैदा हो गई है, तो यह शरीर तो मात्र अन्न का पुतला है। हाड़-मांस व मल-मूत्र के अतिरिक्त इसमें है ही क्या? फिर इस पर आसक्ति कैसी? आप लोग आसक्ति छोड़िए और पवित्र मैत्री सम्बन्धों को याद कीजिए। आज से तीसरे जन्म में हम अभिन्न मित्र थे। मेरा नाम महाबल था। आप लोगों के नाम अमुक-अमुक थे। आइए, इस बार प्रबल साधना करके हम सातों शाश्वत स्थान को प्राप्त करें, जहां से हमारा अलगाव कभी हो ही नहीं।'

मल्लिकुमारी के इस प्रेरक उद्‌बोधन व पिछले जन्म की बातों से राजाओं को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उन्होंने अपने पिछले सम्बन्धों को स्वयं देख लिया। तत्काल सभी विरक्त होकर बोले–'भगवती! क्षमा करें, हमसे अनजाने में गलती हुई है। अब हम विरक्त हैं आज्ञा दीजिए, आपके साथ साधना करके बन्धन-मात्र को क्षय कर डालें।'

* दीक्षा

राजकुमारी मल्लि की स्वीकृति पाकर छहों राजा अपनी-अपनी राजधानी में आकर चारित्र लेने की तैयारी में जुट गए। उधर राजकुमारी मल्लि ने भी दीक्षा लेने की घोषणा की। वर्षीदान देने के बाद निर्धारित तिथि मिगसर शुक्ला एकादशी के दिन तीन सौ स्त्रियों तथा तीन सौ पुरुषों के साथ मल्लि भगवती ने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के दिन तेला था।

दीक्षा लेते ही वे मन: पर्यवज्ञानी बन गई। मन: पर्यवज्ञान होते ही भगवती मल्लि कायोत्सर्ग युक्त ध्यान में तन्मय बनी तथा उसी दिन के तीसरे प्रहर में क्षपक श्रेणी लेकर उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की। इस अवसर्पिणी में सबसे कम छद्मस्थ अवस्था में चारित्र की पर्याय पालने वाली तीर्थंकर वे ही थी। दीक्षा के दिन सर्वज्ञता सिर्फ उनको ही प्राप्त हुई थी। दूसरे दिन मिथिला के विश्वसेन के यहां पारणा किया।

देवेन्द्रों ने उत्सव के बाद समवसरण की रचना की। भगवती मल्लि ने प्रथम प्रवचन दिया। प्रवचन के अनंतर ही तीर्थ की स्थापना हो गई। अनेक व्यक्तियों ने निकेत व अनिकेत धर्म की साधना स्वीकार की।

❊ निर्वाण

सुदीर्घकाल तक संघ की प्रभावना कर अन्त में पांच सौ आर्यिकाओं तथा पांच सौ भव्यात्मा मुनियों के साथ एक मास के आजीवन अनशन में अवशिष्ट कर्म प्रकृतियों को क्षय कर उन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त किया।

दिगम्बर मान्यता में मल्लिनाथ को पुरुष माना गया है, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार स्त्री को साधुत्व तथा मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

❊ प्रभु का परिवार

◉ गणधर	28
◉ केवलज्ञानी	2,200
◉ मन: पर्यवज्ञानी	1,750
◉ अवधिज्ञानी	2,200
◉ वैक्रिय लब्धिधारी	2,900
◉ चतुर्दश पूर्वी	668
◉ चर्चावादी	1,400
◉ साधु	40,000
◉ साध्वी	55,000
◉ श्रावक	1,83,000
◉ श्राविका	3,70,000

❊ एक झलक

◉ माता	प्रभावती
◉ पिता	कुंभ
◉ नगरी	मिथिला
◉ वंश	इक्ष्वाकु

- गोत्र — काश्यप
- लक्षण — कुंभ
- वर्ण — नील
- शरीर की ऊंचाई — 25 धनुष्य
- यक्ष — कुबेर
- यक्षिणी — धरणप्रिया
- कुमार काल — 100 वर्ष
- राज्य काल — नहीं
- छद्मस्थ काल — 1 प्रहर
- कुल दीक्षा पर्याय — 54,900 वर्ष
- आयुष्य — 55 हजार वर्ष

❊ पंच कल्याणक

	तिथि	**स्थान**	**नक्षत्र**
⊙ च्यवन	फाल्गुन शुक्ला 4	वैजयन्त	अश्विनी
⊙ जन्म	मिगसर शुक्ला 11	मिथिला	अश्विनी
⊙ दीक्षा	मिगसर शुक्ला 11	मिथिला	अश्विनी
⊙ केवलज्ञान	मिगसर शुक्ला 11	मिथिला	अश्विनी
⊙ निर्वाण	फाल्गुन शुक्ला 12	सम्मेद शिखर	भरणी

पाठ-9 तीर्थंकर अरिष्टनेमि

सौरीयपुर नगर में अन्धक कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उनके चार पुत्र थे–अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि–प्रत्येक बुद्ध।

*** जन्म**

अरिष्टनेमि का जीव जब शिवा रानी के गर्भ में आया तब माता शिवा ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नों की बात सुन सर्वत्र हर्ष छा गया। गर्भकाल पूरा होने पर सावन शुक्ला पंचमी की मध्य रात्रि की शुभ वेला में भगवान का जन्म हुआ। देवेन्द्रों ने उत्सव किया। राजा समुद्रविजय ने अपने दस भाइयों के साथ पुत्र का अपूर्व जन्मोत्सव मनाया। सबके हृदय में उल्लास व उमंग था। नामकरण संस्कार के दिन महारानी शिवा श्याम- कांति वाले नवजात शिशु को लेकर आयोजन में आई। लोगों ने बालक को देखा, आशीर्वाद दिया। नाम की चर्चा में राजा समुद्रविजय ने कहा–'बालक के गर्भ में आने के बाद राज्य सब प्रकार के अरिष्ट से बचा रहा है। इसकी माता को अरिष्ट रत्नमय चक्र (नेमि) का स्वप्न आया था, अतः बालक का नाम अरिष्टनेमि ही रखा जाए।' उपस्थित जनसमूह ने उन्हें इसी नाम से पुकारा।

*** विवाह**

अरिष्टनेमि युवा हुए। इन्द्रिय-विषयों की ओर उनका अनुराग नहीं था। वे विरक्त थे। पिता समुद्रविजय ने सोचा कि ऐसा उपक्रम किया जाए जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों के प्रति आसक्त होकर गृहस्थ जीवन जीए।

अनेक प्रलोभन दिए गए। पर वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। कुछ समय बीता। अन्त में श्रीकृष्ण के समझाने पर वे विवाह के लिए राजी हो गए।

भोज-कुल के राजा अग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। विवाह से पूर्व किए जाने वाले सारे रीति-रिवाज सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया। राजीमती अलंकृत हुई। कुमार अरिष्टनेमि भी अलंकृत होकर हाथी पर आरूढ़ हुए। मंगलदीप सजाए गए। बाजे बजने लगे। वर-यात्रा प्रारंभ हुई।

उधर उग्रसेन राजा ने पूरी तैयारी कर रखी थी। विभिन्न पकवानों के साथ सैकड़ों-हजारों पशुओं को भी एकत्रित कर रखा था। नेमिकुमार की बारात उन संत्रस्त पशुओं के बाड़ों के समीप से गुजरी। भयभीत पशुओं को देखकर नेमिकुमार ने सारथी से पूछा–' इन पशुओं को क्यों रोक रखा है?'

सारथी ने नम्रता से निवेदन किया–'राजकुमार! ये सब आपके लिए हैं। आपके साथ आए यादवकुमारों को इनका मांस परोसा जाएगा।'

नेमिकुमार का हृदय करुणा से भर उठा। वे सोचने लगे–'एक मेरा विवाह होगा और हजारों मूक पशुओं के प्राण लूटे जाएंगे। उनकी मौत का निमित्त बनूंगा मैं। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मुझे विवाह नहीं करना है।' उन्होंने सारथी से कहा–रथ को वापिस द्वारिका की तरफ मोड़ दो।' सारथी ने रथ को मोड़ दिया। नेमिकुमार ने प्रसन्नमना शरीर पर से सारे आभूषण उतार कर रथिक को दे दिए।

नेमिकुमार का रथ मुड़ते ही, बारात की सारी व्यवस्था लड़खड़ा गई। कृष्ण व बलराम आदि सभी ने आकर पुनः बार-बार समझाया। नेमिकुमार दृढ़ता से इन्कार कर द्वारिका आ गए और वर्षीदान दिया।

❊ अभिनिष्क्रमण यात्रा

भगवान् नेमिकुमार की विरक्ति से सब विस्मित थे। परम सुन्दरी राजीमती जैसी युवती को बिना शादी किए ही छोड़ देना प्रबल आत्मबल का कार्य था। अनेक युवकों ने भी उनकी विरक्ति से स्वयं विरक्त होकर तत्काल नेमिकुमार के साथ दीक्षित होने की घोषणा कर दी।

निश्चित तिथि सावन शुक्ला षष्ठी को उत्तरकुरु नामक शिविका में बैठकर उज्जयंत (रेवतगिरि) पर्वत पर सहस्राम्र उद्यान में आए। प्रभु की अभिनिष्क्रमण यात्रा में अपार मानवमेदिनी और चौसठ इंद्रों के साथ अनगिनत देवगण सम्मिलित हुए। शोभा यात्रा में सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर छत्र करते हुए चलने लगे। शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र समुज्ज्वल चंवर बींजते हुए शनैः शनैः कदम उठा स्वस्तिक लेकर तथा सहस्रारेन्द्र दिव्य धनुष्य चढ़ाकर आगे-आगे बढ़ रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स तथा अच्युतेन्द्र नंदावर्त्त धारण किए हुए यात्रा को मंगलमय बना रहे थे। शेष चमरादि इंद्र अपने-अपने आयुधों से सुसज्जित हो अपना-अपना नेतृत्व कर रहे थे।

सहस्राम्र उद्यान में पहुंच कर अशोक वृक्ष के नीचे भगवान ने वस्त्र और आभूषण उतारे और पंच-मुष्टि लोच किया। वासुदेव श्रीकृष्ण ने अवस्था में बड़े होने के कारण लुंचितकेश नेमिकुमार को आशीर्वाद देते हुए कहा–'हे दमीश्वर! आप शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त करें, धर्म का आलोक विश्व में फैलाएं।'

नेमिकुमार ने एक हजार विरक्त व्यक्तियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। वासुदेव श्रीकृष्ण आदि सब उन्हें वंदना कर अपने महलों में लौट आए। दीक्षा के दिन भगवान के तेला था। दूसरे दिन वरदत्त ब्राह्मण के यहां परमान्न (खीर) से उनका पारणा हुआ। देवों ने पंच दिव्य प्रकट किए। लोगों को सर्वत्र पता लग गया कि आज वरदत्त के यहां नेमिकुमार का पारणा हुआ है।

❊ केवल ज्ञान

भगवान नेमिनाथ की दीक्षा के बाद चौपन रात्रियां छद्मस्थ अवस्था में बीती। उत्कृष्ट विरक्ति से ध्यान के विविध आलम्बनों के द्वारा आत्मलीन होकर महान् कर्म निर्जरा की। एकदा आप पुनः उज्जयंत (रेवतगिरि) पर्वत पर पधारे। उसी रात्रि में उन्होंने क्षपक श्रेणी लेकर केवलत्व को प्राप्त किया।

देवों ने उत्सव कर समवसरण की रचना की। द्वारिका के नागरिक भगवान के सर्वज्ञ बनने की बात सुनकर हर्षविभोर हो उठे। वासुदेव कृष्ण सहित सभी उत्सुक लोगों ने रेवतगिरि पर भगवान के दर्शन किए। महासती राजीमती भी भगवान के दर्शनार्थ वहां पहुंच गई। प्रभु के प्रथम प्रवचन में तीर्थ स्थापित हो गया। वरदत्त आदि अनेक संयमोत्सुक व्यक्तियों तथा यक्षिणी आदि अनेक विरक्त महिलाओं ने संयम धारण कर लिया। समुद्रविजय आदि अनेक राजाओं और शिवादेवी, देवकी, रोहिणी आदि रानियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। भगवान ने वरदत्त आदि ग्यारह व्यक्तियों को गणधर व यक्षिणी आर्या को प्रवर्तनी नियुक्त किया।

❊ निर्वाण

सुदीर्घ काल तक भगवान द्वारिका आदि अनेक जनपदों में अतिशय युक्त विचरते रहे। लाखों लोगों को मोक्ष का मार्ग दिखलाया। अंत में भगवान ने पांच सौ छत्तीस चरम शरीरी (तद्भव मोक्ष जाने वाले) मुमुक्षुओं के साथ रेवतगिरि पर्वत पर आजीवन अनशन व्रत स्वीकार कर लिया। भगवान ने तीस दिनों के अनशन में नश्वर शरीर को छोड़कर सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया।

❊ श्रीकृष्ण का पारिवारिक सम्बन्ध

श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक-संबंध भी था। अरिष्टनेमि समुद्रविजय के और श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे। राजीमती को भी दीक्षा के समय में उन्होंने भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया।

श्रीकृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमाल ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली। श्रीकृष्ण की आठ पत्नियां अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुई। श्रीकृष्ण के पुत्र और पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने। जैन साहित्य में अरिष्टनेमि और कृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं के अनेक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं।

❊ प्रभु का परिवार

- गणधर 11
- केवलज्ञानी 1,500
- मनः पर्यवज्ञानी 1,000
- अवधिज्ञानी 1,500
- वैक्रिय लब्धिधारी 1,500

- चतुर्दश पूर्वी 400
- चर्चावादी 800
- साधु 18,000
- साध्वी 40,000
- श्रावक 1,69,000
- श्राविका 3,36,000

*** एक झलक**

- माता शिवा
- पिता समुद्रविजय
- नगरी सौरीपुर
- वंश हरिवंश
- गोत्र गौतम
- लक्षण शंख
- वर्ण श्याम
- शरीर की ऊंचाई 10 धनुष्य
- यक्ष गोमेध
- यक्षिणी अंबिका
- कुमार काल 300 वर्ष
- राज्य काल नहीं
- छद्मस्थ काल 54 दिन
- कुल दीक्षा काल 700 वर्ष
- आयुष्य 1 हजार वर्ष

*** पंच कल्याणक**

	तिथि	**स्थान**	**नक्षत्र**
◉ च्यवन	कार्तिक कृष्णा 12	अपराजित	चित्रा
◉ जन्म	सावन शुक्ला 5	सौरीपुर	चित्रा
◉ दीक्षा	सावन शुक्ला 6	द्वारिका	चित्रा
◉ केवलज्ञान	आसोज कृष्णा 15	रेवतगिरि	चित्रा
◉ निर्वाण	आषाढ़ शुक्ला 8	रेवतगिरि	चित्रा

पाठ-10 उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य

❊ आचार्य सिद्धसेन

उच्च कोटि के साहित्यकार, दिग्गज विद्वान, प्रकृष्टवादी सिद्धसेन श्वेताम्बर परंपरा के आचार्य है। उनके उदार व्यक्तित्व, सूक्ष्म चिंतन-शक्ति और गंभीर दार्शनिक दृष्टियों ने संपूर्ण जैन समाज को प्रभावित किया, जिसके परिणाम स्वरूप दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों परंपरा के विद्वान आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में आदर-भाव सहित आचार्य सिद्धसेन का स्मरण किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का मस्तक आचार्य सिद्धसेन की प्रतिभा के सामने झुक गया। उन्होंने अयोग व्यवच्छेदिका में कहा है–

''**क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था, अशिक्षितालापकला क्व चैषा।**'' सिद्धसेन की गूढ़ार्थक स्तुतियों के सामने मेरे जैसे व्यक्ति का प्रयास अशिक्षित व्यक्ति का आलापमात्र है।

आचार्य सिद्धसेन संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। उस समय संस्कृत भाषा का सम्मान बढ़ रहा था। प्राकृत भाषा ग्रामीण भाषा समझी जाने लगी। जैनेतर विद्वान अपने-अपने ग्रंथों का निर्माण संस्कृत में करने लगे थे। आगमों को विद्वद्भोग्य बनाने के लिए सिद्धसेन ने भी आगम ग्रंथों को प्राकृत से संस्कृत में अनूदित करना चाहा। उन्होंने यह भावना गुरुजनों के सामने कही। स्थितिपालक मुनियों द्वारा नवीन विचारों के लिए समर्थन पाना सरल नहीं था। सारे संघ ने आचार्य सिद्धसेन का प्रबल विरोध किया। इनके नवीन प्रगतिगामी विचारों का विरोध होना स्वाभाविक भी था। श्रमण बोले–तीर्थंकर और गणधर संस्कृत नहीं जानते थे क्या? उन्होंने अर्धमागधी भाषा में आगमों का प्रणयन क्यों किया? अत: आगमों को संस्कृत भाषा में अनुदित करने का विचार करना ही प्रायश्चित का निमित्त है।

संघ के इस विरोध के फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन को मुनि वेश बदलकर बारह वर्ष तक गण से बाहर रहने का कठोर दण्ड मिला। इस पारांचित नामक दसवें प्रायश्चित्त को वहन करते समय आचार्य सिद्धसेन के लिए एक अपवाद भी था। बारह वर्ष की अवधि में उनसे जैन शासन की महनीय प्रभावना का कार्य संपादित हो सका तो दण्ड-काल की मर्यादा से पूर्व भी उन्हें संघ में सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रबंध कोश के अनुसार सात वर्ष अन्यत्र परिभ्रमण करने के बाद सिद्धसेन अवन्ती में आए तथा शिव मन्दिर में पहुँच कर प्रतिमा को नमन किए बिना ही बैठ गए। पुजारी ने उन्हें पुनः पुनः प्रतिमा को प्रणाम करने के लिए कहा, पर आचार्य सिद्धसेन पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। उन्होंने पुजारी की बात को सुनकर भी अनसुना कर दिया और नमन नहीं किया। इस घटना की सूचना वहाँ के राजा के कानों तक पहुँची। विक्रमादित्य राजा स्वयं शिव मन्दिर में उपस्थित हुआ और सिद्धसेन से बोला–

'क्षीर लिलिक्षो भिक्षो! किमिति त्वयादेवो न वन्द्यते''–''हे दुग्धपान करने वाले श्रमण! देव-प्रतिमा को वंदन नहीं करते।''

आचार्य सिद्धसेन बोले–''मेरा वन्दन प्रतिमा सहन नहीं कर सकेगी।''

राजा बोला–''भवतु, क्रियतां नमस्कारः।''

जो कुछ भी घटित होगा उसे होने दो। पहले तुम इस प्रतिमा को वंदन करो।

नरेश विक्रमादित्य की आज्ञा लेकर उस प्रतिमा के सामने आसन पर बैठकर आचार्य सिद्धसेन ने काव्यमयी भाषा में उच्च स्वर में संस्कृत में पार्श्वनाथ की स्तवना प्रारम्भ की। फलस्वरुप आचार्य सिद्धसेन द्वारा रचित स्तुति काव्य के रूप में महान प्रभावक 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र' का निर्माण हुआ। कल्याण मन्दिर स्तोत्र के ग्यारहवें श्लोक के साथ उसी जगह तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई।

आचार्य सिद्धसेन के इस कार्य से जैन शासन की महनीय प्रभावना शतगुणित होकर प्रसारित हुई। राजा विक्रमादित्य ने भी उनका महान सम्मान किया और उनका परमभक्त बन गया। राजा विक्रमादित्य की विद्वद्मंडली में भी आचार्य सिद्धसेन को गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ।

आचार्य सिद्धसेन के प्रस्तुत प्रयत्न से संघ में अतिशय प्रभावना का महत्त्वपूर्ण अंग मानकर श्रमण संघ ने उन्हें दण्ड-मर्यादा से पाँच वर्ष पूर्व ही गण में सम्मिलित कर लिया।

❊ आचार्य जिनभद्रगणी

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आगमवाणी पर पूर्ण समर्पित थे। उनकी समग्र रचनाएं आगम आम्नाय की परिपोषक थी। उन्होंने दर्शन पर आगम को नहीं, पर आगम के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया। उनका हर एक वाक्य आगम की कसौटी पर कसा हुआ होता था। इसलिए वे आगमवाणी के मूर्तरुप थे।

उनकी चिन्तन शैली अत्यन्त मौलिक थी, उन्होंने प्रत्येक प्रमेय के साथ अनेकान्त और नय को घटित किया। परोक्ष की परिधि में परिगणित इन्द्रिय प्रत्यक्ष को संव्यवहार प्रत्यक्ष संज्ञा देने की पहल भी उन्होंने की। ये समग्र बिन्दु भाष्य साहित्य में अधिकांशतः उपलब्ध है।

आचार निष्ठ, आगम निष्ठ, गुणनिधान आचार्य जिनभद्रगणी का भाष्य साहित्य के रूप में जैन समाज को विशेष अनुदान है। अतः उत्तरवर्ती आचार्यों ने भाष्य अम्बोधि, भाष्य पीयुस पाथोधि, भगवान भाष्यकार आदि सम्बोधन देकर भाष्यकार के रूप में उनका स्मरण किया है। वर्तमान में उनके द्वारा रचित नौ रचनाएं उपलब्ध हैं।

आचार्य जिनभद्रगणी का भाष्य साहित्य शोधार्थियों के लिए विशेष रूप से पठनीय एवं मननीय बना रहेगा।

जैन परम्परा में 104 वर्ष तक अपनी ज्ञान की रश्मियों से धरा को आलोकित करने वाले जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आगम निधि के महासिंधु थे।

❊ आचार्य मानतुङ्ग

स्तोत्र-काव्यों में भक्तामर स्तोत्र उत्तम रचना है। भक्तिरस का यह छलकता निर्झर है। इस स्तोत्र के रचनाकार आचार्य मानतुंग थे। वे अपने युग के प्रतिष्ठित कवि थे और यशस्वी विद्वान थे। कवित्व शक्ति का उनमें विशेष विकास था एवं संस्कृत भाषा पर उनका आधिपत्य था।

उस समय वाराणसी में राजा हर्षदेव का शासन था। निष्कलंक चारित्र के धनी विद्वद् शिरोमणि हर्षदेव विद्वानों व कविजनों का विशेष आदर करते थे। वेद-वेदांग के पारगामी विद्वान मयूर और बाण नामक कवियों को चामत्कारिक विद्याओं के कारण राजसभा में विशेष सम्मान प्राप्त हुआ।

राजा हर्षदेव का मन्त्री जैन था। उसने राजा से नम्र निवेदन किया–'भूमिनाथ! यह धरा वसुन्धरा है, इसके महासाम्राज्य में बहुमूल्यरत्नों के भंडार भी है। जैनों का भी चमत्कारिक विद्याओं पर अतिशय-आधिपत्य है। जैन विद्वान महाप्रभाव सम्पन्न आचार्य मानतुङ्ग आपकी नगरी में विराजमान है। आपकी कौतुकमयी जिज्ञासा को पूर्ण करने में वे समर्थ है। आप उनको सादर आमंत्रित करें। राजा ने मंत्री को उन्हें सम्मानपूर्वक बुला लाने का निर्देश दिया। मंत्री ने मानतुंग के पास जाकर समग्र स्थिति से उन्हें अवगत कराया और कहा–'कृपा कर आप अपने चरणों से राजप्रांगण को पवित्र करें और चामत्कारिक विद्या के प्रयोग का प्रदर्शन करें।' आचार्य मानतुङ्ग बोले–'समग्र सांसारिक कामनाओं से मुक्त मुनिजनों का इस प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है।' मंत्री ने प्रार्थना की–'मैं जानता हूँ आप निस्संग और निरासक्त है, पर जैन धर्म की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख है। मंत्री की युक्ति-संगत प्रार्थना को स्वीकार कर मानतुङ्ग राजसभा में पहुंचे और सबको धर्मलाभ देकर उचित स्थान पर बैठ गए। राजा हर्षदेव ने सम्मुखासीन आचार्य मानतुंग से कहा–'संत-श्रेष्ठ! इस पृथ्वी पर ब्राह्मण कितने प्रभावशाली है।' एक पंडित ने सूर्य की आराधना कर अपने शरीर से कोढ़ जैसे महारोग को मिटा दिया। दूसरे पंडित के विछिन्न हाथ-पैर चण्डिका देवी की उपासना करने से यथोचित स्थान पर जुड़ गए। ये अतिशय प्रभावी ब्राह्मण विद्वान आपके सामने हैं। अब आप भी अपनी मंत्र-विद्या का प्रभाव प्रदर्शित करें।'

आचार्य मानतुङ्ग बोले–'भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति में निस्पृह मुनिजनों को लोकरंजन से अर्थ ही क्या? उनका प्रत्येक उद्देश्य मोक्षार्थ की सिद्धि है। आचार्य की बात सुनकर राजा हर्षदेव गंभीर हो गए। उनके आदेश से राजसेवकों ने लोहशृंखला के 48 निगड़ बन्ध से आपाद-मस्तक मानतुङ्ग को घोर तिमिस्राच्छन्न अन्तर्गृह में बन्द कर दिया।

आचार्य मानतुङ्ग चामत्कारिक विद्याओं का प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। जैनधर्म की दृष्टि से विद्याओं का प्रदर्शन अविहित माना गया है। पर जैन शासन की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख बन गया था। आचार्य मानतुङ्ग जिन-स्तुति में लीन हो गए। भक्ति-रस से परिपूर्ण उन्होंने 48 श्लोक रचे। (वर्तमान

में हमारी मान्यता के अनुसार 44 श्लोक ही उपलब्ध हैं।) प्रतिश्लोक के साथ आयोमयी शृंखला की सघन कड़ियाँ ढीली हो गई और ताले टूटते गए। सुधीर, गंभीर आचार्य लोहशृंखला से मुक्त होकर राजसभा में उपस्थित हुए। उन्होंने शांत और सुमधुर स्वरों में भूपाल को आशीर्वचन दिया।

प्रभात के समय उदयगिरि शिखर पर उदीयमान सूर्य के तुष्यमानतुंग का तेजोद्दीप्त भाल दर्शकों को आकर्षित कर रहा था। इस विस्मयकारक घटना से नरेश हर्षदेव अत्यन्त प्रभावित हुए और बोले–मुने! आपका समता व समर्पणभाव अद्‌भुत है। मैं धन्य हूँ, मेरा देश धन्य है व मेरा आज का दिवस धन्य है। आज से मैं आपका उपदेश स्वीकार करता हूँ। आचार्य मानतुंग के पावन उपदेश से राजा ने जैनशासन की उन्नति के लिए अनेक कार्य किए और स्वयं ने भी जैन धर्म स्वीकार किया।

❊ आचार्य अकलङ्क

भट्ट अकलंक दिगम्बर परम्परा के कुशल वाग्मी, श्रेष्ठ कवि शास्त्रार्थ-प्रवीण, गम्भीर-दार्शनिक आचार्य थे। जैन-न्याय के वे प्राण-प्रतिष्ठापक थे। शास्त्रविज्ञ आचार्यों में भी आचार्य अकलंक अग्रणी थे। अकलङ्क और निष्कलङ्क युगलभ्राता असाधारण बुद्धि के स्वामी थे।

एक बार दोनों भाई बौद्ध प्रमाणशास्त्र के अध्यायनार्थ अपना वेशपरिवर्तन कर बौद्ध विद्यापीठ में प्रविष्ट हुए। बौद्ध छात्रों को पूर्वपक्ष के रूप में अनेकांत के अन्तर्गत सप्तभङ्गी सिद्धान्त समझाया जा रहा था। पाठ अशुद्धि के कारण अर्थ-बोध सम्यक् प्रकार से बुद्धिगम्य नहीं हो सका। अतः उस दिन का अध्ययन स्थगित कर दिया गया। रात्रि के समय इन बंधुओं ने वह पाठ शुद्ध कर दिया। दूसरे दिन अध्ययन में शुद्ध पाठ को देखते ही धर्म गुरुओं को बौद्ध छात्रों में किसी जैन के होने का संदेह हुआ। खोज प्रारम्भ हुई। एक दिन शिक्षकों ने सब छात्रों को जैन-मूर्ति को लांघने का आदेश दिया। अकलंक और निष्कलंक के सामने समस्या पैदा हुई। उन्होंने चतुराई से काम लिया। मूर्ति पर स्फूर्ति से रेखा खींचकर या धागा बांधकर युगल बन्धु आगे बढ़ गए। इस परीक्षा में वे किसी की पकड़ में न आए। बौद्ध गुरुओं ने खोज का दूसरा प्रकार ढूँढा। रात्रि में एक बार कांस्य-बर्तनों का भरा थैला, ऊपर से नीचे गिराया। भीषण आवाज को सुनते ही अचानक छात्र जाग गए। अपने-अपने इष्ट देवों का स्मरण करने लगे। इन दोनों भाइयों ने विघ्नहारक नमस्कार महामंत्र का उच्चारण किया। इस महामंत्र को सुनते ही बौद्धों ने उन्हें घेर लिया और मठ की ऊपरी मंजिल पर कारागृह में बन्द कर दिया।

किसी प्रकार से दोनों वहाँ से पलायन करने में सफल हो गए। अश्वारोही व्यक्तियों ने बौद्ध-गुरुओं के आदेश से उनका पीछा किया। अपने पीछे दौड़ते हुए घुड़सवारों को देखकर निष्कलंक ने अकलंक से कहा–'बन्धुवर्य! मेरे से आपकी बुद्धिप्रखर है। अतः मैं भागता हूँ, किसी प्रकार से आप अपने प्राण बचाएं। अकलंक ने तालाब में घुसकर एवं कमल-पत्रों से अपने को आच्छादित कर प्राणों की रक्षा कर ली। उस समय तालाब के किनारे धोबी कपड़ों की धुलाई कर रहे थे। निष्कलंक को भागते देखकर एक धोबी भी घुड़सवारों के डर से उसके साथ भागने लगा। घुड़सवारों ने निष्कलंक के साथ धोबी को अकलंक समझ कर दोनों को ही मार दिया। घुड़सवारों के वापिस लौट जाने के बाद तालाब से निकलकर अकलङ्क निर्भय हो, धरा पर परिभ्रमण करने लगा।

जैन मुनि बनकर विद्वान भट्ट अकलङ्क ने आचार्य पद को शोभित किया। अपने जीवन काल में उन्होंने अनेक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया, उनमें मुख्यतः बौद्धों के वे प्रतिद्वन्दी थे। अपने प्रभावी व्यक्तित्व के कारण आचार्यों की शृंखला में उन्होंने उच्चतम स्थान प्राप्त किया। उनको जैन न्याय का पिता कहा जाता है।

आचार्य अकलङ्क और निष्कलङ्क के जीवन का यह प्रसंग आचार्य हरिभद्र के शिष्य हँस, परमहंस के घटनाचक्र से मिलता-जुलता है।

❊ आचार्य हरिभद्र

जैन परम्परा में हरिभद्र नाम के कई आचार्य हुए है। प्रस्तुत हरिभद्रसूरि सबसे प्राचीन है और याकिनीमहत्तरा सूनु नाम से प्रसिद्ध है। सैकड़ों वर्षों के बाद भी हरिभद्रसूरि का जीवन प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमक रहा है। उनमें जैसे उदार मानस का विकास हुआ वैसे बिरलों में ही हो पाता है उन्होंने प्रतिपक्षी के लिए महर्षि, महामुनि जैसे सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग किया है। उनका वह उदात्त घोष आज भी सुविश्रुत है –

पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।

वीर-वचन से मेरा पक्षपात नहीं। कपिल मुनियों से मेरा द्वेष नहीं। जिनका वचन तर्क युक्त है–वही ग्राह्य है।

आचार्य हरिभद्र अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में वैदिक दर्शन के पारगामी विद्वान ब्राह्मण थे। उन्हें राज्य में राजपुरोहित का स्थान प्राप्त था। उन जैसा कोई विद्वान नहीं है, इस बात को सूचित करने हेतु कि उनका दर्पोन्नत मानस किसी भी व्यक्ति द्वारा उच्चारित वाक्य का अर्थ न समझने पर उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने को प्रतिबद्ध था। हरिभद्र अपने को इस कलयुग में सर्वज्ञ समझते थे।

एक बार रात्रि में राजसभा से लौटते समय राजपुरोहित हरिभद्र जैन उपाश्रय के पास से गुजरे। उपाश्रय में साध्वी-संघ की प्रवर्तिनी 'महत्तरा याकिनी' संग्रहणी गाथा का उच्चध्वनिपूर्वक जाप कर रही थी–

चक्कि दुगं हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसव चक्की य।।

श्लोक की स्वर-लहरिया हरिभद्र के कानों से टकराई। उन्होंने इसे बार-बार ध्यानपूर्वक सुना। मन ही मन चिन्तन चला, पर बुद्धि को पूर्णतः झकझोर देने के बाद भी वे नवनीत को पा न सके। हरिभद्र के अहं पर यह पहली बार करारी चोट थी। अर्थबोध पाने की तीव्र जिज्ञासा उनको उपाश्रय तक ले गई और फिर उपाश्रय क्या ले गई। अगले दिन सुबह वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अर्थ समझ कर उन साध्वियों के गुरु जिनदत्त सूरि के पास दीक्षित हो गए।

आचार्य हरिभद्र वैदिक दर्शन के पारगामी विद्वान तो पहले से ही थे। जैन-श्रमण-दीक्षा लेने के बाद वे जैन दर्शन के विशिष्ट विज्ञाता बने। उनकी सर्वतोमुखी योग्यता के आधार पर गुरु ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया।

अपने जीवन काल में उन्होंने उच्चकोटि का विपुल साहित्य लिखा। उनके ग्रंथ जैन शासन के अनुपम वैभव है। उनकी लेखनी विविध विषयों पर चली। आगमिक क्षेत्र में वे सर्वप्रथम टीकाकार थे। योग के क्षेत्र में भी उन्होंने नई दृष्टियां प्रदान की। उन्होंने ज्ञानवर्धक प्रकीर्णक ग्रंथों की रचना की।

आज आचार्य हरिभद्रसूरि का सम्पूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है, पर जो भी कुछ भाग्य से प्राप्त हैं, वह उच्च कोटि का है। उसमें आचार्य हरिभद्रसूरि की अमेय मेधा के दर्शन होते हैं। (उन्होंने ज्ञानवर्धक प्रकीर्णक ग्रंथों की रचना की) शोध लेखकों के लिए उनके ग्रंथ पर्याप्त सामग्री करने वाले हैं।

❊ आचार्य अभयदेव (नवांगी टीकाकार)

अभयदेव नाम के कई आचार्य हुए है। प्रस्तुत आचार्य अभयदेव की प्रसिद्धि नवाङ्गी टीकाकार के रूप में है। अभयदेव श्रमनिष्ठ आचार्य थे। संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व था। उनकी स्वाद-विजय की साधना दूसरों के लिए आदर्श भूत थी।

पत्यपद्रपुर में रात्रि के समय आचार्य अभयदेव ध्यान में बैठे थे। टीका रचना की अन्तः प्रेरणा उनके मन में उत्पन्न हुई। प्रभावक चरित्र आदि ग्रंथों के अनुसार यह प्रेरणा शासन देवी की थी। निशीथकाल में ध्यानस्थ अभयदेव के सामने देवी प्रकट होकर बोली–'मुने! आचार्य शीलांक एवं कोट्याचार्य द्वारा विरचित टीका साहित्य में आचारांग और सूत्रकृतांग आगम की टीकाएं सुरक्षित है। अवशिष्ट टीकाएं काल के दुष्प्रभाव से लुप्त हो गई। अतः इस क्षतिपूर्ति के लिए संघ-हितार्थ आप प्रयत्नशील बनें एवं टीका-रचना का कार्य प्रारम्भ करें।'

अन्तर्मुखी आचार्य अभयदेव बोले–'देवी! मेरे जैसे जड़मति व्यक्ति द्वारा सुधर्मास्वामी कृत आगमों को पूर्णतः समझना भी कठिन है। अज्ञानवश कहीं उत्सूत्र की प्ररूपणा हो जाने पर यह कार्य उत्कृष्ट कर्म बंधन का और अनन्त संसार की वृद्धि का निमित्त बन सकता है। शासन देवी के वचनों का उल्लंघन करना भी उचित नहीं है। अतः तुम्हारे द्वारा प्राप्त संकेत पर किंकर्तव्यविमूढ़ जैसी स्थिति मेरे अंदर उत्पन्न हो गई है।''

आचार्य अभयदेव के असन्तुलित मन को समाधान प्रदान करती हुई देवी ने निवेदन किया– 'मनीषीमान्यः सिद्धान्तों के समुचित अर्थ को ग्रहण करने में सर्वथा योग्य समझकर ही मैंने आपसे इस महत्त्वपूर्ण कार्य की प्रार्थना की है, आगम-पाठों की व्याख्या में जहाँ भी आपको सन्देह हो उस समय मेरा स्मरण कर लेना। मैं सीमंधर स्वामी से पूछकर आपके प्रश्नों को समाहित करने का प्रयत्न करूंगी।'

आचार्य अभयदेवसूरि को शासन देवी के वचनों से सन्तोष मिला। आगम जैसे महान कार्य में तपोबल की शक्ति आवश्यक है। यह सोच नैरन्तरिक आचाम्ल-तप (आयंबिल) के साथ उन्होंने टीका-रचना का कार्य प्रारंभ किया। एक निष्ठा से वे अपने कार्य में लगे रहे। अपनी श्रम परायण वृत्ति के कारण वे नौ आगमों पर टीका-ग्रन्थों की रचना में सफल हुए।

❊ आचार्य हेमचंद्र

आचार्य हेमचन्द्र के वचन समस्त प्राणियों के लिए–'अमृत तुल्य है' प्रभाचन्द्राचार्य के इन शब्दों में अतिरञ्जन नहीं है। विद्वान हेमचन्द्र युगसंस्थापक आचार्य थे। वे असाधारण प्रज्ञा से सम्पन्न थे। सार्धत्रय कोटि (साढ़े तीन करोड़) पद्यों की रचना कर उन्होंने सरस्वती के भंडार को अक्षय-निधि से भरा था। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह को अध्यात्म संदेश से प्रभावित कर एवं उनके उत्तराधिकारी नरेश कुमारपाल को व्रत-दीक्षा प्रदान कर जैन शासन के गौरव को सहस्त्र-गुणित विस्तार प्रदान किया था। उनके ज्ञान सूर्य की किरणों के प्रसार से गुजरात-संस्कृति के प्राण पुलक उठे थे। धरा का कण-कण अध्यात्म-आलोक से जगमगा उठा था। सामाजिक, राजनीतिक जीवन में भी नव चेतना का जागरण हुआ। साहित्य-संस्थान को नया रूप मिला था। कला सजीव हो गई थी। गुजरात राज्य में यह काल जैन धर्म के परम उत्कर्ष का काल था।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिमा हेम-सी निर्मल थी। वे ज्ञान के विशाल कोष थे। उन्होंने प्रभूत परिमाण में मूल्यवान ग्रंथों की रचना की। यही कारण है कि उनकी प्रसिद्धि कलिकाल-सर्वज्ञ के नाम से हुई। उनके ग्रन्थों को पढ़कर पाश्चात्य विद्वान पिटर्सन ने उनको ज्ञान का समंदर (Ocean of knowledge) कहकर सम्बोधित किया। हेमचन्द्र विलक्षण विद्वान थे। जैन संस्कृति को जन जन में व्याप्त करने की दृष्टि से उन्होंने विविध-विधाओं में साहित्य की रचना की। व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, न्याय, नीति, ज्योतिष, इतिहास आदि सभी विषयों पर हेमचन्द्र की लेखनी चली। उनका सृजन कार्य साहित्यिक इतिहास का अनुपम पृष्ठ है। आज भी हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित उपलब्ध ग्रन्थ पाठकों को महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं।

व्याकरण के क्षेत्र में उन्होंने 'सिद्ध हेमव्याकरण' 'सिद्ध हेमलिंगानुशासन'तथा 'धातु पारायण' ग्रंथों की रचना की। शब्दकोष की समृद्धि में उनके 'अभिधान चिन्तामणि', अनेकार्थ संग्रह, देशीनाममाला, निघण्टुकोष ग्रन्थ है। अलंकार ग्रन्थों में काव्यानुशासन; छन्द ग्रंथों में छन्दोनुशासन; काव्यग्रंथों में संस्कृत-प्राकृत द्वयाश्रय काव्यचरित, इतिहास ग्रन्थों में त्रिषष्टिशलाकापुरुष, परिशिष्ट पर्व दर्शन एवं न्याय विषयक ग्रंथों में प्रमाण मीमांसा; योगव्याख्या ग्रंथों में योगशास्त्र, जैसे अनेक उत्तम ग्रंथों की रचना आचार्य हेमचन्द्र ने की। जैन इतिहास का ज्ञान करने के लिए तथा संस्कृत पाठीपाठकों के लिए हेमचन्द्राचार्य के ये ग्रन्थ विशेष उपयोगी है।

पाठ-11 आचार्य भारमलजी

तेरापंथ के द्वितीय आचार्य भारमलजी का जन्म वि. सं. 1804 मुहां ग्राम (मेवाड़) में ओसवाल वंश के लोढ़ा परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम किशनोजी तथा माता का नाम धारिणी था। दस वर्ष की लघुवय में उन्होंने स्थानकवासी संप्रदाय में मुनि भीखणजी (आचार्य भिक्षु) के हाथ से दीक्षा ग्रहण की। वे बचपन से ही सहज, सरल एवं विनीत होने के साथ-साथ सत्य के महान पक्षधर थे। आचार्य भीखणजी जब विचार-भेद के कारण स्थानकवासी संप्रदाय से अलग हुए तब भारमलजी स्वामी ने उनका अनुगमन किया। आचार्य भीखणजी के शिष्यों में मुनि भारमलजी उनके परम भक्त और प्रमुख शिष्य थे। आचार्य भिक्षु के आदेश को वे जीवन से भी अधिक मूल्य देते थे।

मुनि भारमलजी स्थिरयोगी, प्रज्ञावान और सतत श्रमशील थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा आचार्य भिक्षु की सन्निधि में ही हुई थी। थोड़े ही समय में सहस्रों गाथाओं को कण्ठस्थ कर उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया। स्वाध्याय में उनकी विशेष रुचि थी। अनेक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद एक प्रहर रात्रि तक वे खड़े-खड़े उत्तराध्ययन सूत्र की गाथाओं का स्वाध्याय कर लेते। वे लिपिकला में बहुत दक्ष थे। उनके अक्षर सुघड़ और सुडौल थे। उन्होंने स्वामीजी द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रंथों की प्रतिलिपि की। आज भी उनकी वे प्रतियां स्वामीजी के ग्रंथों की प्रामाणिक प्रतियों के रूप में मान्य हैं। आचार्य भिक्षु जो रचना करते, शिक्षा देते, लेख व मर्यादा बनाते, भारमलजी स्वामी उन्हें लिपिबद्ध कर स्थायित्व देते जाते। उन्होंने अपने जीवन में लगभग पांच लाख गाथाओं का लेखन किया।

भारमलजी स्वामी का जीवन आचार्य भिक्षु की प्रयोगशाला थी। स्वामीजी संघ में कोई भी नियम लागू करना चाहते तो उसका प्रथम प्रयोग भारमलजी पर ही करते। इसका परिणाम यह होता कि दूसरे साधुओं पर स्वयं उसका असर पड़ता।

एक बार भारमलजी स्वामी को कसौटी पर कसते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा–'यदि किसी व्यक्ति द्वारा तुम्हारी कोई गलती निकाली जाए तो तुम्हें दंडस्वरूप एक तेला करना होगा।' भारमलजी स्वामी ने पूछा–'गुरुदेव! तेला गलती की सत्यता पर करना होगा या मिथ्या अभियोग में भी?' स्वामीजी ने कहा–'तेला तो करना ही होगा। गलती हो तो उसका प्रायश्चित्त समझना और गलती न हो तो कर्मों

का उदय समझना।' भारमलजी स्वामी ने सहर्ष गुरुआज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। प्रत्येक मर्यादा के प्रति वे सजग थे। कहते हैं, जीवन भर में गलती निकालने का उन्होंने अवसर ही नहीं आने दिया।

मुनि भारमलजी वि. सं. 1832 मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी को युवाचार्य के रूप में नियुक्त हुए। स्वामीजी के दिवंगत होने के बाद वि. सं. 1860 भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी के दिन वे आचार्य बने।

आचार्य भारमलजी महान साहसी थे। कष्टों में घबराना उन्होंने कभी नहीं सीखा था।

एक बार उदयपुर के राणा भीमसिंहजी को कुछ विरोधी लोगों ने बताया कि तेरापंथ के पूज्य भारमलजी दया-दान के निषेधक हैं। वे जहां रहते हैं वहां वर्षा नहीं होती। यदि इनका चातुर्मास यहां हुआ तो प्रजा को भारी कष्ट होगा।

राणाजी ने उनकी बातें सही समझ भारमलजी स्वामी को शहर छोड़कर चले जाने की आज्ञा दे दी। साधुत्व के नियमानुसार वे वहां से विहार कर राजनगर पधार गए। बाद में वहां के निवासी केसरजी भंडारी ने एकांत अवसर मिलने पर राणा से कहा–'महाराज! जो संत चींटी को भी नहीं सताते उनको आपने नगर से निकाल दिया है। अब सुनता हूं, मेवाड़ से निकाल देने का विचार किया जा रहा है। परंतु आप इस बात की गांठ बांध लें कि जिस राज्य में संतों को सताया जाता है, प्रकृति उसे कभी क्षमा नहीं करती। संतों को निकाल देने के पश्चात् यहां जो अप्रिय घटनाएं घटी हैं (महामारी, जंवाई का कालधर्म प्राप्त होना), वे प्रकृति के रोष का ही परिणाम है।' केसरजी ने महाराणा को सारी वस्तुस्थिति से अवगत कराया। महाराणा को अपनी भूल का बहुत पश्चात्ताप हुआ।

महाराणा ने तत्काल अपने हाथ से भारमलजी स्वामी को एक पत्र दिया। उसमें लिखा–'आप दुष्टता करने वाले उन दुष्टों की ओर न देखें। मेरी तथा नगर की प्रजा की ओर देखकर दया करें।' यह पत्र अपने आदमी को दे उसे आचार्यश्री भारमलजी के पास भेजा जिसमें वापस उदयपुर आने के लिए प्रार्थना की थी। भारमलजी स्वामी वृद्धावस्था के कारण दूसरी बार वहां नहीं पधारे। राणाजी ने दूसरा 'रुक्का' फिर भेजा और वहां पधारने की प्रार्थना की। तब भारमलजी स्वामी ने उनके विशेष आग्रह पर मुनि हेमराजजी, मुनि रायचन्दजी और मुनि जीतमलजी आदि तेरह सन्तों को उदयुपर भेजा। भारमलजी स्वामी के जीवन की ऐसी अनेक घटनाएं हैं जिनसे उनके सहज गुणों की आभा झलकती है। उनके शासनकाल में अड़तीस साधु और चौवालीस साध्वियां दीक्षित हुईं।

वि. सं. 1878 माघ कृष्णा अष्टमी के दिन आचार्य भारमलजी का स्वर्गवास हो गया। अन्तिम समय में उन्हें छह प्रहर का सागारी अनशन और तीन प्रहर का चौविहार अनशन आया।

पाठ- 12 आचार्य रायचन्दजी

तेरापंथ धर्मसंघ के तृतीय आचार्य रायचन्दजी 'ऋषिराय' के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म वि. सं. 1847 को राजस्थान के उदयपुर संभाग में बड़ी रावलिया ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम शाह चतरोजी तथा माता का नाम कुशालांजी था। ग्यारह वर्ष की उम्र में वि. सं. 1857 चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को उन्होंने अपनी माता के साथ आचार्य भिक्षु के पास दीक्षा ग्रहण की।

थोड़े ही समय में मुनि रायचन्दजी ने आगमों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। अनेक सूत्र उन्हें कण्ठस्थ थे। धर्मचर्चा करने में भी वे बड़े निपुण थे। उनकी आवाज तेज थी एवं स्वर में माधुर्य था। कहते हैं कि जब वे व्याख्यान देते तो आस-पास के गांवों तक उनकी आवाज सुनाई देती।

मुनि रायचन्दजी आचार्य भिक्षु के अत्यन्त विश्वासपात्र थे। आचार्य भिक्षु का सान्निध्य उन्हें कुल तीन वर्ष तक ही प्राप्त हुआ। द्वितीय आचार्य भारमलजी के भी वे उतने ही विश्वासपात्र बने रहे। अल्प समय में ही वे एक होनहार मुनि के रूप में प्रतिभासित होने लगे। संघ की आंतरिक व्यवस्था में उनका परामर्श लिया जाता।

वि. सं. 1878 वैशाख कृष्णा नवमी को केलवा (मेवाड़) में आचार्य भारमलजी ने उन्हें युवाचार्य पद प्रदान किया। सं. 1878 माघ कृष्णा नवमी को राजनगर में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। उनका लंबा कद और ओजस्वी व्यक्तित्व दूसरों को शीघ्र ही प्रभावित करने वाला था। उनके युग में तपस्या की भी बहुत वृद्धि हुई।

आचार्य रायचंदजी देशाटन में अभिरुचि रखते थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक नए प्रदेशों की यात्राएं की। उन यात्राओं से तेरापंथ के प्रसार में बहुत सहयोग मिला। गुजरात, सौराष्ट्र एवं कच्छ में सर्वप्रथम ऋषिराय ने ही पदार्पण किया। इससे पहले तेरापंथ का कोई साधु वहां नहीं गया था। आचार्य के रूप में मालवा प्रदेश में जाने वाले सर्वप्रथम ऋषिराय ही थे। थली प्रदेश में तेरापंथ की सरिता को प्रवाहित करने का श्रेय सर्वप्रथम ऋषिराय को ही है।

ऋषिराय बड़े निर्भीक वृत्ति के थे। वे अपनी बात इतने प्रभावशाली ढंग से कहते कि सामने वाला व्यक्ति नत हुए बिना नहीं रहता। एक बार वे मेवाड़ में विहार कर रहे थे। कुछ संत उनसे कुछ

दूर चल रहे थे। उन दिनों वहां डाकुओं का काफी बोलबाला था। एक बार विहार में उनसे आगे चलने वाले साधुओं को कुछ घुड़सवार डाकू मिले। उन्होंने संतों को सामान नीचे रखने को कहा। संतों ने कहा–'हमारे पास कोई धन नहीं है। हम तो अपने पास मात्र आवश्यक वस्त्र, पात्र आदि रखते हैं।' इतने में एक घुड़सवार ने साधु के कंधे पर पड़े कम्बल को लेने का प्रयत्न किया। उस साधु ने भी तत्काल कम्बल को नीचे बिछाया और उस पर बैठ गया। डाकू घोड़े से नीचे उतरा और कम्बल को साधु के नीचे से खींचकर निकालने लगा। ऋषिराय ने दूर से यह दृश्य देखा। तत्काल वहीं से 'हाकल' करते हुए उन्होंने कहा–'सारे गोले ही गोले इकट्ठे हुए हो या तुममें कोई राजपूत भी है?' ऋषिराय की तेज आवाज काफी दूर तक फैल गई। डाकू टोली का सरदार 'ठाकुर' थोड़ा पीछे चल रहा था। तत्काल आगे आया। तब तक ऋषिराय भी संतों के पास पहुंच चुके थे। ठाकुर ने आते ही पूछा–'क्यों महाराज! आपको राजपूत की आवश्यकता क्यों पड़ गई?' ऋषिराय ने कहा–'हमें कोई आवश्यकता नहीं पड़ी है। मैं तो जानना चाहता था कि इनमें कोई राजपूत है या नहीं? क्योंकि मेरा विश्वास है कि राजपूत अभी तक इतना पतित नहीं हुआ है, जो संतों को भी लूटने का साहस करे।' ठाकुर ने ऋषिराय के चरणों में नमस्कार करते हुए अपनी गलती स्वीकार की। इतना ही नहीं, उसने अपने दो साथियों को संतों के साथ भेजा ताकि पीछे आते साथियों में से फिर कोई ऐसी गलती न कर बैठे।

ऋषिराय का शासनकाल तीस वर्ष का रहा। वि.सं. 1908 का अंतिम चतुर्मास उनका उदयपुर में हुआ। उदयपुर में आस-पास के क्षेत्रों में विचरते हुए वे 'छोटी रावलिया' पधारे। वहां माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन सायं शौच के निमित्त बाहर जाते समय अचानक उन्हें श्वास का प्रकोप हुआ और उसी बीमारी में प्रतिक्रमण के पश्चात् वे सदा के लिए इस संसार से विदा हो गए।

ऋषिराय के शासनकाल में कुल दो सौ पैंतालीस दीक्षाएं हुई। उनमें सतहत्तर साधु और एक सौ अड़सठ साध्वियां थीं।

पाठ- 13 आचार्य जीतमलजी

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी जैन परंपरा में एक महान प्रतिभाशाली आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में अपना उपनाम 'जय' रखा। इसलिए वे जयाचार्य के नाम से ही अधिक विख्यात हैं। उनका जन्म मारवाड़ के रोयट ग्राम में वि. सं. 1860 आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। उनके पिता का नाम आईदानजी गोलछा तथा माता का नाम कल्लूजी था। जयाचार्य जब सात वर्ष के थे, तभी उन्होंने दीक्षित होने का निश्चय कर लिया।

जयाचार्य की दीक्षा आचार्य भारमलजी के आदेश से युवाचार्य रायचंदजी द्वारा जयपुर में संपन्न हुई। दीक्षा का दिन वि.सं. 1869 माघ कृष्णा सप्तमी का था। उस समय जयाचार्य दसवें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे।

जयाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता स्वरूपचंदजी स्वामी की दीक्षा इसी वर्ष पौष शुक्ला नवमी को जयपुर में हुई थी। जयाचार्य की दीक्षा के लगभग एक महीने बाद फाल्गुन कृष्णा एकादशी को उनकी माता कल्लूजी तथा द्वितीय ज्येष्ठ भ्राता भीमराजजी ने भी दीक्षा अंगीकार की। उनकी संसारपक्षीय बुआ अजबूजी पहले से ही दीक्षित थी। इस प्रकार जयाचार्य का पूरा परिवार ही तेरापंथ धर्मसंघ को समर्पित हो गया।

दीक्षित होने के बाद शिक्षा के लिए जयाचार्य मुनि हेमराजजी को सौंपे गए। भारमलजी स्वामी जैसे समर्थ आचार्य, ऋषिराय जैसे दीक्षा गुरु और आगमविज्ञ हेमराजजी स्वामी जैसे विद्या गुरु पाकर मानो वे त्रिवेणी में स्नात हो गए।

जयाचार्य प्रारंभ से ही स्थिरयोगी एवं महान मेधावी थे। एक बार हेमराजजी स्वामी पाली पधारे। वे बाजार की दुकानों पर ठहरे। जीतमल मुनि भी उनके साथ थे। उन्हीं दिनों वहां नट-मंडली आई हुई थी। बाजार में बांस रोपकर अपना खेल प्रारंभ किया। शहर के आबाल-वृद्ध उसे देखने जमा हो गए। मुनि जीतमल चौबारे में लिखना कर रहे थे। उधर उनके बिलकुल सामने नाटक प्रारंभ हुआ, इधर उनका लेखन-कार्य चलता रहा। नाटक की ओर उन्होंने आंख उठाकर भी नहीं देखा। एक व्यक्ति ने जो तेरापंथ का द्वेषी था, बालक साधु को देखा तो सोचा, यदि एक बार भी वह साधु नाटक की ओर

देख ले तो इसकी निंदा करने का थोड़ा मसाला मिल जाए। उसने अन्त तक ध्यान रखा, पर असफल। नाटक समाप्त होने पर उस व्यक्ति के मुख से निकल पड़ा–'जिस संघ में ऐसे निष्ठावान स्थिरयोगी मुनि विद्यमान हैं, उस संघ की नींव को कम से कम सौ वर्ष तक तो कोई हिला नहीं सकता।'

जयाचार्य की विकासशील क्षमताओं को देखकर ऋषिराय ने वि.सं. 1894 में उन्हें युवाचार्य पद पर नियुक्त किया। ऋषिराय के स्वर्गवास के पश्चात् वि.सं. 1908 माघ शुक्ला पूर्णिमा को उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ का दायित्व संभाला।

जयाचार्य के शासनकाल में तेरापंथ धर्मसंघ एक शताब्दी को पार कर दूसरी शताब्दी में चरणन्यास कर रहा था। वह युग विचारों के संक्रमण का युग था। तेरापंथ की आन्तरिक व्यवस्थाएं परिवर्तन मांग रही थीं। जयाचार्य ने धर्मसंघ में अनेक व्यवस्थाओं को जन्म दिया। जयाचार्य ने आज से एक शताब्दी पूर्व संघ में संविभाग की व्यवस्था स्थापित कर समाजवाद को मूर्त रूप दे दिया था। जयाचार्य ने न केवल संघीय पुस्तकों, धर्मोपकरणों एवं श्रम का ही संविभाग किया, अपितु साधु-साध्वियों के वर्गों का भी समीकरण किया। उस समय तक साधु-साध्वियों के वर्गों में सहयोगियों की संख्या समान नहीं थी। जयाचार्य ने मनोवैज्ञानिक ढंग से सबके मानस को तैयार कर व्यवस्था को सुचारु रूप प्रदान किया। इस व्यवस्था परिवर्तन को आज की भाषा में जयाचार्य की क्रांति कहा जा सकता है। संघ को समृद्ध एवं सुसंगठित रखने के लिए उन्होंने नई मर्यादाओं का निर्माण भी किया।

श्रीमज्जयाचार्य कुशल अनुशासक, संविधान प्रणेता व मनोवैज्ञानिक अनुशास्ता होने के साथ-साथ महान साहित्यसेवी थे। कवित्व उनमें नैसर्गिक था। ग्यारह वर्ष की उम्र में उन्होंने 'संतगुणमाला' कृति की रचना की। उन्नीस वर्ष की उम्र में पन्नवणा जैसे गंभीर ग्रंथ का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद किया। इसके बाद तो जयाचार्य ने जैसे साहित्य की अजस्र धारा ही प्रवाहित कर दी। जैन वाङ्मय के पंचम अंग भगवती पर उनके द्वारा लिखा गया राजस्थानी पद्यानुवाद 'भगवती की जोड़' राजस्थानी साहित्य का सबसे बड़ा ग्रंथ माना जाता है। उन्होंने न केवल आगमग्रंथों पर पद्यबद्ध टीकाएं लिखीं अपितु स्थान-स्थान पर अपनी स्वतंत्र अनुभूति के आधार पर समीक्षात्मक टिप्पणियां भी लिखी हैं। जयाचार्य ने आख्यान, संस्मरण, स्तुति, दर्शन, न्याय, छन्द, व्याकरण, ध्यानयोग आदि विविध विषयों में अपनी लेखनी चलाई। उनका समग्र साहित्य करीब तीन लाख पद्य परिमाण वाला है।

जयाचार्य के साहित्य का बहुत बड़ा भाग आचार्य भिक्षु के विचारों को गुम्फित करने में कृतार्थ हुआ है। आचार्य भिक्षु के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित थे। उन्हें आचार्य भिक्षु का महान् भाष्यकार कहा जा सकता है। वे आचार्य भिक्षु के जीवन में इस तरह समा गए कि उनकी पहचान द्वितीय भिक्षु के रूप में होने लगी।

जयाचार्य महान् स्वाध्याय-प्रेमी थे। अनेक आगमों की हजारों गाथाएं उन्हें कण्ठस्थ थीं। अंतिम कुछ वर्षों में वे अपना अधिकांश समय आगम-स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिंतन एवं साहित्य-सृजन में लगाते। आगमों का अवगाहन करते-करते उनकी मेधा इतनी प्रखर हो गई थी कि वे जिस किसी विषय को छूते, उसकी पुष्टि में आगम-प्रमाणों की लंबी शृंखला खड़ी कर देते।

जयाचार्य के विराट व्यक्तित्व में एक साथ कई क्षमताओं का विकास था। उन्होंने तीस वर्ष तक आचार्य के रूप में धर्मसंघ की सेवा की। उन्होंने अपने शासनकाल में आचार्य भिक्षु की परंपरा को सजाया, संवारा, संवर्धित किया एवं संगठन को सुदृढ़ आधार दिया।

उनके शासनकाल में तीन सौ उनतीस दीक्षाएं हुई। जिनमें एक सौ पांच साधु एवं दो सौ चौबीस साध्वियां थी। वि.सं. 1938 भाद्रपद कृष्णा द्वादशी को जयपुर में उनका महाप्रयाण हुआ।

पाठ-14 पच्चीस बोल (15-25)

पच्चीस बोल

15. पन्द्रहवां बोल - आत्मा आठ

1. द्रव्य आत्मा	5. ज्ञान आत्मा
2. कषाय आत्मा	6. दर्शन आत्मा
3. योग आत्मा	7. चारित्र आत्मा
4. उपयोग आत्मा	8. वीर्य आत्मा

16. सोलहवां बोल - दण्डक चौबीस

सात नारकी का दण्डक एक	पहला

भवनपति देवों के दण्डक दस–

असुरकुमार का दण्डक	दूसरा
नागकुमार का दण्डक	तीसरा
सुपर्णकुमार का दण्डक	चौथा
विद्युत्कुमार का दण्डक	पांचवां
अग्निकुमार का दण्डक	छठा
द्वीपकुमार का दण्डक	सातवां
उदधिकुमार का दण्डक	आठवां
दिक्कुमार का दण्डक	नौवां
वायुकुमार का दण्डक	दसवां
स्तनितकुमार का दण्डक	ग्यारहवां

पांच स्थावर जीवों के दण्डक पांच–

पृथ्वीकाय का दण्डक	बारहवां
अप्काय का दण्डक	तेरहवां
तेजस्काय का दण्डक	चौदहवां
वायुकाय का दण्डक	पन्द्रहवां
वनस्पतिकाय का दण्डक	सोलहवां
द्वीन्द्रिय का दण्डक	सतरहवां
त्रीन्द्रिय का दण्डक	अठारहवां
चतुरिन्द्रिय का दण्डक	उन्नीसवां
तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय का दण्डक	बीसवां
मनुष्य-पंचेन्द्रिय का दण्डक	इक्कीसवां
व्यन्तर-देवों का दण्डक	बाईसवां
ज्योतिष-देवों का दण्डक	तेईसवां
वैमानिक-देवों का दण्डक	चौबीसवां

17. सतरहवां बोल - लेश्या छह

1. कृष्ण लेश्या
2. नील लेश्या
3. कापोत लेश्या
4. तेजो लेश्या
5. पद्म लेश्या
6. शुक्ल लेश्या।

18. अठारहवां बोल - दृष्टि तीन

1. सम्यग्-दृष्टि
2. मिथ्या-दृष्टि
3. सम्यग्-मिथ्या दृष्टि।

19. उन्नीसवां बोल - ध्यान चार

1. आर्त्तध्यान
2. रौद्रध्यान
3. धर्म्यध्यान
4. शुक्ल-ध्यान।

20. बीसवां बोल - षड् द्रव्यों का ज्ञान

1. धर्मास्तिकाय

द्रव्य से – एक द्रव्य।
क्षेत्र से – लोक-परिमाण।
काल से – अनादि-अनन्त।

भाव से – अरूपी।

गुण से – गतिशील पदार्थों की गति में उदासीन सहायक।

2. अधर्मास्तिकाय

द्रव्य से – एक द्रव्य।

क्षेत्र से – लोक-परिमाण।

काल से – अनादि-अनन्त।

भाव से – अरूपी।

गुण से – पदार्थों के स्थिर रहने में उदासीन सहायक।

3. आकाशास्तिकाय

द्रव्य से – एक द्रव्य।

क्षेत्र से – लोक-अलोक-परिमाण।

काल से – अनादि और अनन्त।

भाव से –अरूपी।

गुण से – भाजन गुण। पदार्थों को अवकाश देना, स्थान देना।

4. काल

द्रव्य से – अनन्त द्रव्य।

क्षेत्र से – अढ़ाई द्वीप-परिमाण।

काल से – अनादि और अनन्त।

भाव से – अरूपी।

गुण से – वर्तन गुण।

5. पुद्गलास्तिकाय

द्रव्य से – अनन्त द्रव्य।

क्षेत्र से – लोक-परिमाण।

काल से – अनादि और अनन्त।

भाव से – रूपी।

गुण से – गलन-मिलन स्वभाव।

6. जीवास्तिकाय

द्रव्य से – अनन्त-द्रव्य।

क्षेत्र से – लोक-परिमाण।

काल से – अनादि और अनन्त।

भाव से – अरूपी।

गुण से – चैतन्य गुण।

21. इक्कीसवां बोल - राशि दो

1. जीव राशि
2. अजीव राशि

22. बाईसवां बोल - श्रावक के बारह व्रत

1. अहिंसा अणुव्रत
2. सत्य अणुव्रत
3. अस्तेय अणुव्रत
4. ब्रह्मचर्य अणुव्रत
5. अपरिग्रह अणुव्रत
6. दिग्विरति व्रत
7. भोगोपभोग-परिमाण व्रत
8. अनर्थदण्ड-विरति व्रत
9. सामायिक व्रत
10. देशावकाशिक व्रत
11. पौषधोपवास व्रत
12. अतिथि संविभाग व्रत ।

23. तेईसवां बोल - साधु के पांच महाव्रत

1. अहिंसा-महाव्रत
2. सत्य-महाव्रत
3. अस्तेय-महाव्रत
4. ब्रह्मचर्य-महाव्रत
5. अपरिग्रह-महाव्रत

24. चौबीसवां बोल - भांगा 49

तीन करण तीन योग से –

तीन करण – करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं ।

तीन योग – मन, वचन, काया ।

अंक 11 का भांगा 9

यहां पहले अंक 1 का अर्थ है एक करण और दूसरे अंक 1 का अर्थ है एक योग । अर्थात् एक करण और एक योग से 9 भांगे हो सकते हैं, जैसे–

(क) 1. करूं नहीं – मन से ।
2. करूं नहीं – वचन से ।
3. करूं नहीं – काया से ।

(ख) 4. कराऊं नहीं – मन से ।
5. कराऊं नहीं – वचन से ।
6. कराऊं नहीं – काया से ।

(ग) 7. अनुमोदूं नहीं – मन से ।

8. अनुमोदूं नहीं – वचन से ।

9. अनुमोदूं नहीं – काया से ।

अंक 12 का भांगा 9

यहां पहले अंक 1 का अर्थ है एक करण एवं दूसरे अंक 2 का अर्थ है दो योग। अर्थात् एक करण एवं दो योग से 9 भांगे हो सकते है जैसे -

(क) 1. करूं नहीं – मन से, वचन से ।

2. करूं नहीं – मन से, काया से ।

3. करूं नहीं – वचन से, काया से ।

(ख) 4. कराऊं नहीं – मन से, वचन से ।

5. कराऊं नहीं – मन से, काया से ।

6. कराऊं नहीं – वचन से, काया से ।

(ग) 7. अनुमोदूं नहीं – मन से, वचन से ।

8. अनुमोदूं नहीं – मन से, काया से ।

9. अनुमोदूं नहीं – वचन से, काया से ।

अंक 13 का भांगा 3

यहां पहले अंक 1 का अर्थ है एक करण एवं दूसरे अंक 3 का अर्थ है तीन योग। अर्थात् एक करण एवं तीन योग से केवल 3 भांगे हो सकते हैं, जैसे -

(क) करूं नहीं – मन से, वचन से, काया से ।

(ख) कराऊं नहीं – मन से, वचन से, काया से ।

(ग) अनुमोदूं नहीं – मन से, वचन से, काया से ।

अंक 21 का भांगा 9

यहां पहले अंक 2 का अर्थ है दो करण एवं दूसरे अंक 1 का अर्थ है एक योग। अर्थात् दो करण एवं एक योग से केवल 9 भांगे हो सकते हैं, जैसे -

(क) 1. करूं नहीं, कराऊं नहीं – मन से ।

2. करूं नहीं, कराऊं नहीं – वचन से।

3. करूं नहीं, कराऊं नहीं – काया से ।

(ख) 4. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से ।

5. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं – वचन से ।

6. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं – काया से ।

(ग) 7. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से।

8. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – वचन से।

9. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – काया से।

अंक 22 का भांगा 9

यहां पहले अंक 2 का अर्थ है दो करण और दूसरे अंक 2 का अर्थ है दो योग। अर्थात् दो करण एवं दो योग से केवल 9 भांगे हो सकते हैं, जैसे–

(क) 1. करूं नहीं, कराऊं नहीं – मन से, वचन से ।

2. करूं नहीं, कराऊं नहीं – मन से, काया से ।

3. करूं नहीं, कराऊं नहीं – वचन से, काया से।

(ख) 4. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से, वचन से।

5. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं –मन से, काया से।

6. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं – वचन से, काया से।

(ग) 7. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से, वचन से।

8. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से, काया से।

9. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – वचन से, काया से।

अंक 23 का भांगा 3

यहां पहले अंक 2 का अर्थ है दो करण एवं दूसरे अंक 3 का अर्थ है तीन योग। अर्थात् दो करण एवं तीन योग से केवल 3 ही भांगे हो सकते हैं, जैसे -

(क) करूं नहीं, कराऊं नहीं – मन से, वचन से, काया से।

(ख) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से, वचन से, काया से।

(ग) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से, वचन से, काया से।

अंक 31 का भांगा 3

यहां पहले अंक 3 का अर्थ तीन करण एवं दूसरे अंक 1 का अर्थ है एक योग। अर्थात् तीन करण एवं एक योग से केवल 3 भांगे हो सकते हैं, जैसे–

(क) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से।

(ख) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – वचन से ।

(ग) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – काया से।

अंक 32 का भांगा 3

यहां पहले अंक 3 का अर्थ है तीन करण एवं दूसरे अंक 2 का अर्थ है दो योग। अर्थात् तीन करण एवं दो योग से केवल तीन भांगे हो सकते हैं, जैसे–

(क) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से वचन से।

(ख) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से, काया से।

(ग) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – वचन से, काया से।

अंक 33 का भांगा 1

यहां पहले अंक 3 का अर्थ है तीन करण एवं दूसरे अंक 3 का अर्थ है तीन योग। अर्थात् तीन करण एवं तीन योग से केवल एक ही भांगा हो सकता है, जैसे–

1. करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं – मन से, वचन से, काया से

25. पच्चीसवां बोल – चारित्र पांच

1. सामायिक चारित्र
2. छेदोपस्थापनीय चारित्र
3. परिहार विशुद्धि चारित्र
4. सूक्ष्मसम्पराय चारित्र
5. यथाख्यात चारित्र

पुस्तक के सभी पाठों से संबंधित प्रश्नों के अभ्यास
के लिए स्केन करें–

Sambodhi
E-Library